॥ श्रीः ॥

...स्कृत-ग्रन्थमाला

...१२८

॥ श्रीः ॥

अर्थसंग्रहः

'दीपिका' व्याख्योपेतः

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

THE
HARIDAS SANSKRIT GRANTHAMALA
228
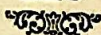
श्रीलौगाक्षिभास्करप्रणीतः

अर्थसंग्रहः

त्यागमूर्ति श्रीटाटाम्बरिस्वामिना
'दीपिका' हिन्दीटीकया समलङ्कृतः

न्याय-व्याकरणाचार्य-लब्धस्वर्णपदक-
पण्डित श्रीशोभितमिश्रेण सम्पादितः

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1 (India)

प्रस्तावना

प्रत्येक प्राणी स्वभावतः सुखप्राप्ति के लिये अनवरत कुछ न कुछ प्रयास करता रहता है। वस्तुतः सुख प्राप्त करना ही जीवन का परम उद्देश्य समझा जाता है, इसमें किसी का भी मतभेद नहीं है। परन्तु उसके सामने यह एक जटिल प्रश्न उठ खड़ा होता है कि वह सुख कैसे प्राप्त हो? इसी के समाधान को दृष्टिकोण में रखते हुए महान आचार्यों ने कर्म के साथ-साथ उसके साधनों की जानकारी प्राप्त करना ही परम उपाय बतलाया है। उनमें भी ज्ञान के साथ कर्म का इतना गहरा सम्बन्ध है कि एक के बिना दूसरे का सफल होना असम्भव है; ऐसा कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसीलिये जगन्नियन्ता परम-पिता प्रभु ने नानाविध विचित्र विश्वसर्जन कर्म कौशल को दर्शाते हुए विश्व को ही कर्ममय एवं ज्ञानमय करने की भावना से कर्म-ज्ञान के भण्डार वेद को ही अपना एक प्रतीक स्थापित किया है। उसी प्रभु की प्रेरणात्मक आज्ञा को वहन करते हुए महर्षि भगवान् जैमिनि ने कर्मप्रधान जगत् में प्राणिमात्र के कल्याणार्थ ऐहिकामुष्मिक उद्देश्यों के परम साधनभूत उत्तम कर्मों में प्रवृत्ति कराने की भावना से प्रेरित होकर मानवों को वेदार्थतत्त्वों की जानकारी प्राप्त कराने के लिये कर्म-काण्डप्रधान मीमांसा शास्त्र का द्वादश अध्यायों में निर्माण किया। उसी को पूर्वमीमांसा या कर्ममीमांसा कहते हैं। उससे वेदों के वास्तविक अर्थतत्त्वों का ज्ञान अच्छी तरह होता है। किन्तु उसमें अत्यन्त विशाल रूप से प्रतिपादित जटिलतम कर्मकलापों का ज्ञान कराने में समर्थ किसी सरलतम ग्रंथ को नहीं देखकर महामहोपाध्याय लौगाक्षि भास्कराचार्य ने उक्त मीमांसा शास्त्र में प्रवेश कराने के लिये सभी वैदिक यज्ञ-सम्बन्धी पदार्थों का संक्षेप में संग्रह कर 'अर्थ-संग्रह' नाम का ग्रन्थ बनाया। मीमांसा का सारभूत यह ग्रन्थ छोटा होने पर भी कितना उपादेय है यह विषय प्रायः किसी से छिपा नहीं है। अतएव प्रत्येक प्रान्त की संस्कृत परीक्षा में भी यह ग्रन्थ तत्तत्प्रान्तीय शिक्षासमिति द्वारा पाठ्य पुस्तकों में निर्धारित किया गया है।

स्वतन्त्र भारत की वाणी (हिन्दी) से सुसज्जित होकर यह पुस्तक आज प्रथम बार राष्ट्रभाषा का अभिनन्दन करने जा रही है—यह एक महान हर्ष का विषय है, क्योंकि इसमें बहुत से ऐसे पारिभाषिक शब्द आ गये हैं, जिनके पूर्वापर सम्बन्ध के साथ वास्तविक भावार्थों को एक सरल एवं ठोस रूप में जानने के

लिये छात्रगणों को बहुत ही दिनों से बड़ी ही उत्कण्ठा वनी हुई थी। यद्यपि इसकी वहुत सी संस्कृत टीकायें प्रकाशित हो चुकी हैं तथापि अल्प समय में अत्यन्त सरल उपाय से विद्यार्थियों को समझाने के लिये वे अपर्याप्त ही मालुम पड़ती थीं। इसलिये आधुनिक युग के अनुसार एक सामयिक भाषा टीका का होना अत्यन्त ही आवश्यक समझा जाता था, जिसकी पूर्ति के लिये यह भगीरथ-प्रयास किया गया है।

इस ग्रंथ के रचयिता महामहोपाध्याय लौगाक्षिवंशोद्भव प्रसिद्ध नामधेय महर्षि भास्कर हैं। आपने न्यायशास्त्र में भी प्रवेश कराने के लिये छात्रोपकारार्थ 'तर्ककौमुदी' नामक ग्रंथ रचा है। इससे स्थालीपुलाकन्यायेन आपका दर्शनशास्त्र-विषयक प्रगाढ पाण्डित्य सूचित होता है।

प्रस्तुत संस्करण के हिन्दी टीकाकार त्यागमूर्ति स्वामी श्री टाटाम्वरी जी महाराज रामानन्द सम्प्रदाय के परम नैष्ठिक वैष्णव संन्यासी हैं। आपका सारा जीवन परोपकार में ही हमेशा लगा रहता है। आपने दर्शनशास्त्र का विशेष परिशीलन कर मीमांसा शास्त्र में अनुपम वैदुष्य प्राप्त किया है। अत्यन्त प्राचीन होते हुए भी आपने छात्रों को अत्यन्त सुगमता से समझाने के लिये इस टीका में अत्यन्त सुन्दर एवं सरल पथ प्रदर्शित किया है। टीका में यत्र-तत्र आपने ग्रंथ के आशय को हृदय खोलकर रख दिया है—यह आपकी एक वड़ी विशेषता है। मुझे पूर्ण आशा है कि इस टीका से विद्यार्थियों को पूर्ण सहयोग मिलेगा।

स्वामी टाटाम्बरी जी महाराज की इस स्तुत्य कीर्ति को निज अर्थव्यय से प्रकाशित करने वाले गोलोकवासी स्वनामधन्य श्रेष्ठिवर श्री हरिदास जी गुप्त के आत्मज चौखम्वा संस्कृत पुस्तकालयाध्यक्ष वाबू श्री जयकृष्ण दास जी गुप्त महोदय भी विशेष धन्यवाद के योग्य हैं। आपने अपने ६२ वर्ष के वयोवृद्ध विश्वविख्यात चौखम्वा संस्कृत पुस्तकालय द्वारा जो अनवरत संस्कृत की सेवा की है, उसके लिये संस्कृत समाज ही नहीं प्रत्युत आज का स्वतन्त्र भारत भी आपका कृतज्ञ है।

वसन्त पंचमी
वि० सं० २००९

विनीत—
ताराकान्त झा शास्त्री
प्रधानाध्यापक श्री रघुवीर विद्यालय,
शीगडा, काठियावाड़

अर्थसंग्रहविषयानुक्रमणिका ।

इत्यर्थसंग्रहस्थविषयानुक्रमणिका ।

॥ श्रीः ॥

अर्थसंग्रहः

'दीपिका' टीकया विभूषितः ।

मङ्गलाचरणम् ।

वासुदेवं रमाकान्तं नत्वा लौगाक्षिभास्करः ।
कुरुते जैमिनिनये प्रवेशायार्थसंग्रहम् ॥ १ ॥

श्रीरामं जगदीश्वरं प्रभुवरं ध्येयं सदायोगिभि-
र्भक्तानन्दकरं प्रणम्य परमानन्दस्वरूपं विभुम् ।
वैदेहीसहितं हृदा गुरुगिरं ध्यात्वा परां सर्वदा
श्रीटाटाम्बरिणा हि कौतुकधिया भाषा शुभा तन्यते ॥

बालानां सुखबोधाय मीमांसापरिशीलने ।
विदुषां प्रीतये सेयमर्थसंग्रहदीपिका ॥

लौगाक्षिभास्करजी लक्ष्मीरमणरूपी वासुदेवको प्रणामकर वेद-वेदांगको पढ़कर धर्ममें जिज्ञासा करनेवालोंको मीमांसा शास्त्रमें प्रवेशके लिये अर्थसंग्रह नामके ग्रन्थकी रचना करते हैं । मीमांसक लोग ईश्वरको न मानते हुए भी द्रव्यत्यागोद्देश्य विष्णुजीको देवता मानते हैं इसलिये उनका अत्यन्त क्लिष्ट ग्रन्थ रचनाके प्रारम्भमें सकलविघ्ननिवारणार्थ और शिष्यशिक्षार्थ स्मरणादिरूप मंगल करना अनुपयुक्त नहीं है । परमकारुणिक भगवान् जैमिनिने द्वादश अध्यायमें मीमांसा शास्त्र बनाया है उसीका संक्षेपसे इस ग्रन्थमें प्रतिपादन है इसलिये इस ग्रन्थका अर्थसंग्रह नाम सार्थक है ।

अनुबन्धचतुष्टयविचार—"सम्बन्धश्चाधिकारी च विषयश्च प्रयोजनम् । विनाऽनुबन्धं ग्रन्थादौ मंगलं नैव शस्यते ॥" इत्यादि अभियुक्त वचनोंसे ग्रन्थके आरम्भमें अनुबन्धचतुष्टय अवश्य रहता है इसलिये इस ग्रन्थमें भी अनुबन्धचतुष्टय

बतलाते हैं। यथा—प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है। वेद-वेदांग पढ़कर धर्म जिज्ञासु अधिकारी है। धर्म विषय है। यद्यपि अधर्मका भी विचार है तथापि निराकरण करने के लिये ही उसका प्रतिपादन किया गया है। विचारित धर्मानुष्ठानसे होने वाला स्वर्गादि प्रयोजन है।

तन्त्रारम्भकसूत्रावतरणम्।

अथ परमकारुणिको भगवाञ्जैमिनिर्धर्मविवेकाय द्वादशलक्षणीं प्रणिनीय तत्रादौ धर्मजिज्ञासां सूत्रयामास–'अथातो धर्मजिज्ञासे'ति। अत्राथशब्दो वेदाध्ययनानन्तर्यवचनः। अतःशब्दो हि वेदाध्ययनस्य दृष्टार्थत्वं ब्रूते।

धर्मविचारशास्त्रस्यावश्यकता।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यध्ययनविधौ तदध्ययनस्यार्थज्ञानरूपदृष्टार्थकत्वेन व्यवस्थापनात्। तथा च वेदाध्ययनानन्तरं यतोऽर्थज्ञानरूपदृष्टार्थकं तदध्ययनमतो हेतोर्धर्मस्य वेदार्थस्य जिज्ञासा कर्तव्येति शेषः। जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा। अतो धर्मविचारशास्त्रमिदमारम्भणीयमिति शास्त्रारम्भसूत्रार्थः।

परमकारुणिक भगवान् जैमिनि ने वेदाध्ययनके बाद धर्मविचारके लिये द्वादशाध्याय-लक्षणात्मक मीमांसा शास्त्रको हृदयमें रखकर निर्माणार्थ सर्वप्रथम धर्मजिज्ञासा—सूत्र बनाया। इस सूत्रमें भी अथ शब्द वेदाध्ययनानन्तर्यका ही वाचक है। यद्यपि अथ शब्दका कोशादिसे आनन्तर्यमात्र अर्थ प्रतीत होता है तथापि किसके अनन्तर यह आकांक्षा होनेपर वेदाध्ययनका लाभ होता है। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस अध्ययन विधिके विचारात्मक प्रथमाधिकरणमें वेदाध्ययनका वेदार्थज्ञानरूप दृष्ट प्रयोजन बतलाया है इसलिये इस सूत्रमें भी अतः शब्दसे वेदाध्ययनके दृष्टार्थत्व (दृष्टप्रयोजन) को, सूचित करते हैं। यहां पर 'कर्तव्या' इस पदका अध्याहारकर जिस हेतुसे वेदाध्ययनका अर्थज्ञानरूप दृष्ट प्रयोजन है इसलिये वेदाध्ययनके बाद वेदार्थधर्मकी जिज्ञासा करनी चाहिये। यहां पर जिज्ञासा शब्दका 'ज्ञानविषयक इच्छा' अर्थ है और कृधातुका बनाना अर्थ है अतः इच्छा बनायी नहीं जा सकती क्योंकि जैसे घट, कुम्भकारके व्यापारका विषय होनेसे ही किया जाता है वैसे इच्छा किसीके व्यापारका विषय नहीं है और इच्छामात्रसे अनुष्ठानोपयोगी धर्म ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञानार्थक ज्ञाधातुका अजहल्लक्षणासे अनुष्ठानोपयोगि ज्ञान

अर्थ समझना चाहिये और इच्छार्थक सनप्रत्ययका जहल्लक्षणासे विचार अर्थ समझना चाहिये । इसलिये "इस धर्मविचारशास्त्रका आरम्भ करना चाहिये" यहाँ शास्त्रारम्भ (अथातो धर्मजिज्ञासा) सूत्रका अर्थ हुआ ।

यहाँपर यह शङ्का उठती है कि यागादि ही धर्म है अथवा चैत्य (जिन) वन्दनादि भी धर्म है और धर्मका लक्षण क्या है ? क्योंकि लक्षण और प्रमाणके बिना वस्तु की सिद्धि नहीं होती । कहा भी है (मानाधीना) प्रमाणके अधीन (मेयसिद्धिः) वस्तु की सिद्धि होती है और (मानसिद्धिश्च) प्रमाण की सिद्धि (लक्षणात्) लक्षणसे होती है । सजातीय विजातीय वस्त्वन्तरसे अपने लक्ष्यको विभिन्न बतलाने वालेको ही लक्षण कहते हैं । जैसे गन्धवत्त्वसे पृथिवीमें सजातीय (जलादिद्रव्य) विजातीय (गुणादि) से भेद सिद्ध होता है इसलिये गन्धवत्त्व पृथिवीका लक्षण है । इसलिये निम्न लक्षण प्रश्न आवश्यक है ।

धर्मलक्षणप्रश्नः ।

अथ को धर्मः, किं तस्य लक्षणमिति चेत् । उच्यते—यागादिरेव धर्मः । तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति । प्रयोजनेऽतिव्याप्तिवारणाय प्रयोजनवदिति । भोजनादावतिव्याप्तिवारणाय वेदप्रतिपाद्य इति । अनर्थफलकत्वादनर्थभूते श्येनादावतिव्याप्तिवारणायार्थ इति ।

यागादि ही धर्म है यहां एव शब्दसे चैत्यवन्दन धर्म नहीं है यह सूचित होता है । आदि पदसे मंगलाचरण और दध्यादिरूप गुण प्रभृतिका संग्रह करना चाहिए । जो वेदसे (प्रतिपाद्य) कहा गया हो, प्रयोजनवाला हो और अर्थ हो, उसीको धर्म कहते हैं । इस लक्षणमें प्रयोजनवत् पद नहीं देनेसे स्वर्गादि-रूप (प्रयोजन) अर्थमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि स्वर्ग वेदप्रतिपाद्य और (अर्थ) प्रयोजन है । प्रयोजनवत् पद देनेपर स्वर्गादि सुखादिरूप है इसलिये इसका प्रयोजनान्तर नहीं है । अतः अतिव्याप्ति नहीं हुई । वेदप्रतिपाद्य पद नहीं देनेपर भोजनादिमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि भोजन तृप्त्यादिरूप प्रयोजनवाला और अर्थ भी है । वेदप्रतिपाद्यपद देनेसे भोजन राग प्राप्त है इसलिये अतिव्याप्ति नहीं होती । यद्यपि 'अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनाम् । द्वात्रिंशत्तु गृहस्थस्य यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम् ॥" इत्यादि विधिबोधित भी भोजन है तथापि इस वचनको ग्रासनियमपरक मानते हैं । इसलिये वेदप्रतिपाद्य

पदसे उसका भी वारण हो सकता है। अर्थपद नहीं देनेसे अनर्थभूत श्येनादिमें अति-व्याप्ति होगी क्योंकि वह 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यादि वेदप्रतिपाद्य और शत्रुवधरूप प्रयोजनवान् भी है। यद्यपि नरकजनक ही अनर्थ होता है श्येनकर्म नरकजनक नहीं है इसलिये अनर्थ भी नहीं है अत एव चतुर्थाध्याय में श्री जैमिनिजीने भी इष्ट-साधनत्वेन वेदबोधित श्येनकर्मको भी धर्म कहा है, इसलिये अर्थ पदका व्यावर्त्य-श्येन नहीं हो सकता तथापि शत्रुवध नरकजनक है अतः अनर्थफलकत्वात् शत्रुवध द्वारा नरकजनक श्येनकर्म भी अनर्थ है। चतुर्थाध्यायमें साक्षादिष्टसाधन-त्वेन वेदबोधित वधमात्र के अभिप्रायसे ही श्येनकर्मको धर्म कहा है पर वस्तुतः परंपरया वह अनिष्ट (नरक) जनक है इसलिये चतुर्थाध्यायसे विरोध नहीं होता है। अत एव "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" इस सूत्रमें अर्थ पद सार्थक होता है। जैसे परामर्शसे व्यवहित व्याप्तिज्ञानमें अनुमितिजनकत्व माना गया है इसी तरह शत्रु-वधव्यवहित श्येनकर्ममें भी नरकजनकत्व माननेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

वेदस्य धर्मप्रतिपादकत्वम्।

न च 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' इति सौत्रतल्लक्षणविरोधः चोदनापद-स्य विधिरूपवेदैकदेशपरत्वादिति वाच्यम्। तत्रापि चोदनाशब्दस्य वेद-मात्रपरत्वात्। वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्।

वेदप्रतिपाद्य घटित धर्मके लक्षणमें सूत्रकारोंने जो 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' यह धर्म का लक्षण बनाया इससे विरोध लगता है क्योंकि यहांपर चोदनापदका अर्थ, विधिरूप वेदैकदेश है और उसके मतसे विधिरूप वेदैकदेश प्रतिपादित जो अर्थ वही धर्म है और आपके मतसे वेदप्रतिपादित जो अर्थ वह धर्म है अतः विरोध स्पष्ट है। यह शंका नहीं कर सकते हो क्योंकि सूत्र-कारीय धर्मलक्षणमें चोदनापदका चोदना (विधि) प्रकरणपठित समस्त वेद अर्थ है अतः सूत्रकारके मतसे भी वेदप्रतिपाद्यघटित ही धर्म का लक्षण है इसलिये विरोध नहीं होगा। यहाँ पर "सोऽरोदीद् यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्। स प्रजापतिरा-त्मनो वपामुदखिदत्" इत्यादि चोदनाशेष वाक्योंसे धर्मप्रतिपादित नहीं है अतः तत्प्रतिपाद्य अर्थमें अतिव्याप्ति होगी यह नहीं कह सकते हैं क्योंकि यह वाक्य भी स्तुत्यादि प्रतिपादन द्वारा धर्मप्रतिपादक है इसलिये चोदना प्रकरण पठित समस्त वेदोंके धर्ममें तात्पर्य होने से समस्त वेद धर्मप्रतिपादक ही है॥

स च यागादिः 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिवाक्येन स्वर्गमुद्दिश्य पुरुषं प्रति विधीयते। तथा हि—यजेतेत्यत्रास्त्यंशद्वयं यजिधातुः प्रत्ययश्च। प्रत्ययेऽप्यस्त्यंशद्वयाख्यातत्वं लिङ्त्वं च। तत्राख्यातत्वं दशलकारसाधारणं लिङ्त्वं पुनर्लिङ्मात्रे।

'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्य स्वर्गको उद्देश्यकर पुरुषके प्रति यागका विधान करता है। इस वाक्यसे स्वर्गसाधनत्वेन याग-विधानका लाभ होता है परन्तु साधनत्ववाचक कोई पद देखनेमें नहीं आता इसलिये प्रकृतिप्रत्ययका विभागपुरस्सर प्रत्ययांश विभागसे भावनाका प्रतिपादन करते हुए तत्सामर्थ्यसे यागमें स्वर्गसाधनत्व बतलाते हैं। जैसे—'यजेत' यहाँ पर दो अंश हैं यज धातु और प्रत्यय। प्रत्ययमें भी दो अंश (भाग) हैं आख्यातत्व और लिङ्त्व उनमें आख्यातत्व (तिङ्त्व) दश लकारों में है, लिङ्त्व केवल लिङ् में है।

भावनाविचारः।

उभाभ्यामप्यंशाभ्यां भावनैवोच्यते। भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः। सा द्विधा—शाब्दीभावना आर्थीभावना चेति।

दोनों (आख्यातत्व और लिङ्त्व) अंशोंसे भावना ही कही जाती है। 'भावनैव'—यहां एवकारसे वैयाकरणाद्यभिमत कर्त्रादि अर्थका निरास होता है। अब भावनासामान्यका लक्षण करते हैं। (भवितुः) उत्पन्न होनेवालेका भवनानुकूल, उत्पत्तिजनक जो (भावयितुः) प्रयोजकका व्यापार विशेष वही भावना है। जैसे लोकमें उत्पन्न होनेवाले ओदनकी उत्पत्ति (विक्लित्ति) जनक जो प्रयोजक देवदत्तादिनिष्ठ व्यापार उसीको आर्थी भावना कहते हैं। एवं उत्पद्यमान देवदत्त प्रवृत्तिकी उत्पत्तिका जनक जो प्रयोजक यज्ञदत्तादिका अभिप्राय विशेषात्मक व्यापार, वही शाब्दी भावना है। वेदमें जैसे 'यजेत स्वर्गकामः'—यहांपर उत्पद्यमान याग अथवा स्वर्गके उत्पत्तिजनकका प्रयोजक स्वर्गकामपुरुषनिष्ठ जो व्यापार विशेष है वही आर्थी भावना है। एवं उत्पद्यमान स्वर्गकामपुरुष-प्रवृत्तिकी उत्पत्तिका जनक जो लिङ्का व्यापार विशेष, वही शाब्दी भावना है। इस तरहसे भावनाके दो भेद हुए—शाब्दी भावना और आर्थी भावना।

शाब्दीभावना।

तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना। सा च लिङंशेनोच्यते। लिङ्श्रवणेऽयं मां प्रवर्तयति मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापार-

वानयमिति नियमेन प्रतीतेः। यद्यस्माच्छब्दान्नियमतः प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम्। यथा गामानयेत्यस्मिन्वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम्॥

उन दोनों (शब्दभावना और अर्थभावना) में पुरुष प्रवृत्ति (अनुकूल) जनक जो प्रयोजकका व्यापार, उसीको शाब्दी भावना कहते हैं। वह शाब्दी भावना लिङ्का अर्थ है। क्योंकि लिङ्के श्रवण होनेपर (मां प्रवर्तयति) मदीय-प्रवृत्तिजनक व्यापार वाला यह है—यह नियमतः प्रतीत होता है, जो जिस शब्दसे नियमतः प्रतीत होता है, वह उस शब्दका (वाच्य) अर्थ है यह व्याप्ति है। जैसे 'गामानय' इस वाक्यमें गोशब्दका अर्थ गोत्व है।

शाब्द्या लौकिकवैदिकभेदौ।

स च व्यापारविशेषो लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेषः। वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावाल्लिङादिशब्दनिष्ठ एव। अत एव शाब्दी-भावनेति व्यवह्रियते।

वह लिङ्वाच्य व्याप्रार विशेष लौकिक वाक्यमें प्रवर्तक पुरुषनिष्ठ अभि-प्राय विशेष है। और वैदिक वाक्यमें प्रवर्तक पुरुष नहीं है इसलिये लिङादि शब्द-निष्ठ ही है (अतएव) शब्दनिष्ठ होनेके कारण ही यह शाब्दी भावनासे व्यवहृत होता है। इसका विशद विचार भावनासामान्य लक्षण के अवसर पर किया है।

सा च भावनांशत्रयमपेक्षते साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च, किं भावयेत, केन भावयेत्, कथं भावयेदिति।

वह शाब्दीभावना अंशत्रयकी अपेक्षा करती है इसलिये भावना अंशत्रयवती कहलाती है। साध्य साधन और इतिकर्तव्यता, किं भावयेत् (साधयेत्) यह साध्याकांक्षाका आकार है, केन (हेतुना) भावयेत्, यह साधनाकांक्षाका आकार है। कथं (किस प्रकार) भावयेत्, यह इतिकर्तव्यताऽऽकांक्षका आकार है। इति-कर्तव्यता शब्दका अर्थ उसीके विचारोंमें बतलायेंगे।

तत्र साध्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणांशत्रयोपेता आर्थीभावना साध्यत्वेना-न्वेति एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः। संख्यादीनामेकप्रत्यय-गम्यत्वेऽप्ययोग्यत्वान्न साध्यत्वेनान्वयः।

उनमें साध्यकी आकांक्षा होने पर—स्वर्गादि रूप साध्याद्यंशत्रय युक्त जो आगे बतलायी जाने वाली आर्थी भावना है उसको साध्यत्वेन अन्वय होगा। अर्थात्

शाब्दी भावनाका साध्य आर्थी भावना ही है क्यों कि शाब्दी भावना और आर्थी भावना दोनों एक ही लिङ् प्रत्ययका अर्थ है इस लिये इन दोनोंका (समानाभिधानश्रुतेः) एक ही वाचक पद होनेसे परस्पर सम्बन्ध होना उचित है । यद्यपि लिङ्वाच्य संख्या और कालभी एक प्रत्यय गम्य हैं तथापि वे दोनों शाब्दी भावनाके साध्य नहीं हो सकते हैं । क्यों कि उन दोनोंमें पुरुषार्थत्व अथवा पुरुषार्थसाधनत्व नहीं है । इस लिये पुरुषार्थत्व अथवा तत्साधनत्व रूप साध्यत्व-योग्यता नहीं रहनेसे अन्वय नहीं हुआ । प्रवृत्तिरूप आर्थी भावनामें पुरुषार्थ (धर्मादि) साधनत्वरूपयोग्यता है इस लिये आर्थीभावनाको साध्यत्वेन अन्वय हो सकता है ।

साधनाकाङ्क्षायां लिङादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति । तस्य च करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन, तत्पूर्वमपि तस्याः शब्दे सत्त्वात् । किंतु भावनाज्ञापकत्वेन, शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेन वा ।

जब शाब्दी भावनामें साधन (करण) की आकांक्षा होती है तब लिङादि ज्ञानका करणत्वेन अन्वय होता है । यद्यपि लिङादि ज्ञानमें शाब्दीभावनोत्पादकत्वेन करणत्व नहीं है, अर्थात् शाब्दीभावनोत्पत्तिजनक लिङादि ज्ञान नहीं है इसलिये लिङादि ज्ञानमें करणता नहीं है क्योंकि (तत्पूर्वमपि) लिङादि ज्ञानसे पहले भी शब्दमें (सा) शाब्दी भावना है अतः शाब्दी भावनाका उत्पादक लिङादि ज्ञान कथमपि नहीं हो सकता तथापि (भावनाज्ञापकत्वेन) भावनाका प्रकाशक होनेसे लिङादि ज्ञानमें करणत्व माना गया है। अथवा शाब्दी भावनाके (भाव्य) साध्य जो आर्थीभावना (तन्निर्वर्तकत्वेन) उसका सम्पादक होनेसे ही करणता मानी गयी है । जैसे छिदिक्रियासाध्य-द्विधाभवनसम्पादकत्वेन कुठारको छिदि भावनाके प्रति करणत्व होता है उसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिए ।

इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायामर्थवादज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति ।

अभी तकके प्रतिपादनसे यह प्रश्न उठता है कि पुरुषोंकी यागादिमें प्रवृत्ति यदि लिङादि ज्ञानसे होती है तो सबोंकी प्रवृत्ति क्यों नहीं होती इसलिये इतिकर्तव्यता (कैसे यागादि करे) का उत्थान करते हैं कि लिङादि ज्ञानसे कैसे भावना की जाय । इतिकर्तव्यताशब्दमें इतिशब्दका प्रकार अर्थ है । (कर्तव्यस्य इति=प्रकारः इतिकर्तव्यता) सामान्यका भेदक जो विशेष उसीको प्रकार कहते हैं अतः लिङादि ज्ञानरूप कर्तव्य सामान्य है उसका भेदक जो कर्म-प्राशस्त्य रूप विशेष है उसीको इति कर्तव्यतात्वेन अन्वय होगा । अर्थात् जिसको यागादि कर्ममें प्राशस्त्यका ज्ञान

होगा उसीको लिङादि ज्ञानसे प्रवृत्ति होगी और जिसको प्राशस्त्य ज्ञान नहीं होगा उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी। "स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्" इत्यादि अर्थवाद वाक्यसे लक्षणया प्राशस्त्यका ज्ञान होता है। 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादि वाक्यसे "पुरुषप्रवृत्तिस्वरूपाऽऽर्थीभावनासाध्यक, लिङादिज्ञानकरणक और अर्थवाद-वचनबोधित प्राशस्त्यादि–इतिकर्तव्यताक लिङादिशब्दनिष्ठ व्यापार" यह शाब्द बोध होगा। अर्थात् प्राशस्त्यविशिष्ट लिङादि ज्ञानसे यागमें प्रवृत्ति करनी चाहिए।

आर्थीभावनालक्षणम्।

प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना। सा चाख्यातत्वांशेनोच्यते आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात।

स्वर्गादिप्रयोजनरूपफलविषयक जो इच्छा उससे (जनित) जन्य यागादि रूप क्रियाविषयक व्यापारको ही आर्थी भावना कहते हैं। यह आर्थी भावना (आख्यातत्वांशेनोच्यते) लिङ् का अर्थ है, क्योंकि मीमांसक मतमें आख्यात मात्रका व्यापार (भावना) अर्थ है।

आर्थीभावनाया अंशत्रयम्।

साप्यंशत्रयमपेक्षते साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेदिति। तत्र साध्याकाङ्क्षायां स्वर्गादिफलं साध्यत्वेनान्वेति। साधनाकाङ्क्षायां यागादिः करणत्वेनान्वेति। इति-कर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजाद्यङ्गजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति।

यह आर्थीभावना भी साध्य साधन और इतिकर्तव्यताकी आकांक्षा करती है। किं भावयेदित्यादि साध्यकी आकांक्षाका आकार है। उसमें जब साध्यरूपकी आकांक्षा होती है तो स्वर्गादि फलको साध्यत्वेन अन्वय होता है। साधनकी जब आकांक्षा होती है तब यागादिका करणत्वेन अन्वय होता है। पूर्वोक्त रीतिसे इति-कर्तव्यताकी आकांक्षा होनेपर प्रयाजादि जो अङ्ग (जात) समुदाय है उसका इति-कर्तव्यतात्वेन अन्वय होता है। स्वर्गादिसाध्यक यागादिकरणक और प्रयाजादि अङ्ग समुदायरूप इतिकर्तव्यताक आर्थीभावनाको ही प्रवृत्ति कहते हैं। यहां पर यह जानने योग्य बात है कि—क्रियात्मक यागका अचिरेणैव नाश हो जाता है इस यागसे कालान्तरभावि स्वर्ग नहीं हो सकता इसलिये अङ्गविशिष्ट यागानुष्ठानसे चिरस्थायि एक अपूर्वकी उत्पत्ति होती है। यह अपूर्व, दर्श और पौर्णमासमें

अनेकों तरहके हैं। जैसे फलापूर्व समुदायापूर्व उत्पत्त्यपूर्व और अङ्गापूर्व । इनमें जिस अपूर्वसे स्वर्ग हो उसको फलापूर्व कहते हैं क्योंकि स्वर्गरूपफलका कारण यही है। समुदायापूर्वसे फलापूर्वकी उत्पत्ति होती है। समुदायके दो भेद हैं उनमें (दर्श) अमावास्यामें तीनयागोंका एक समुदाय और पौर्णमासीमें तीन यागोंका दूसरा समुदाय इन दोनों समुदायोंसे जो अपूर्व होता है उसे समुदायापूर्व कहते हैं। उक्त दोनों समुदायोंसे फलापूर्वकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि दोनों समुदायोंके विभिन्न कालमें उत्पन्न होनेसे दोनोंका सम्मेलन नहीं होता अतः फलापूर्वका कारण कैसे होगा। इसलिये दोनों समुदायोंसे दो अपूर्वोंकी उत्पत्ति अवश्य माननी होगी। अमावस्यामें 'ऐन्द्रं दध्यमावास्यायामैन्द्रं पय अमावास्यायाम्' एतद्वाक्यविहित दो (सान्नाय्य) ऐन्द्रयाग और 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' एतद्वाक्य विहित एक आग्नेय यागका समुदाय होता है। एवं पौर्णमासीमें 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति' एतद्वाक्यविहित आग्नेय याग 'ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छत्' एतद्वाक्यविहित अग्नीषोमीयाग और 'तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव तावुपांशु पौर्णमास्याम्' एतद्वाक्यविहित—'उपांशुयाजमन्तरा यजति' उपांशु यागका समुदाय होता हैं। इन दोनों समुदायोंमें भी एक समुदायमें जो तीन याग हैं वे भिन्न २ कालमें होते हैं इसलिये इन तीनोंके मिलनेसे जो समुदायापूर्वकी उत्पत्ति होती है वह नहीं होगी, इस लिये उन पृथक् पृथक् तीनों यागोंसे तीन उत्पत्त्यपूर्वकी उत्पत्ति होती है। इन तीनों उत्पत्त्यपूर्वोंकी उत्पत्ति भी अंगोपकारक (द्रव्यादि) रूप अङ्गोंकी सहायताके विना नहीं हो सकती है। और अङ्ग भी अलग २ समयमें होते हैं इसलिये अङ्ग सब मिलकर उत्पत्त्यपूर्वके कारण नहीं हो सकते हैं। इसलिये उत्पत्त्यपूर्वके आरम्भके लिये अङ्गापूर्वकी कल्पना करते हैं इसीको सन्निपत्त्योपकारक (जिसका लक्षण स्वयं ग्रन्थकार कहेंगे) कहते हैं। यहां पर किसीका मत है कि सन्निपत्त्योपकारक रूप अवघात और प्रोक्षणादिसे द्रव्य और देवताके संस्कार द्वारा यागस्वरूपमें ही अतिशय (अपूर्व) की उत्पत्ति होती है अतः अवघातादिका व्यापार यागोत्पत्त्यपूर्वोत्पत्तिमें है और उत्पत्त्यपूर्वद्वारा फलापूर्वमें भी व्यापार है इसलिये सन्निपत्त्योपकारक अङ्गापूर्वमें यागोत्पत्त्यपूर्वके प्रति ही प्रयोजकता है। किसीका मत है कि फलापूर्वके प्रति ही अङ्गापूर्वमें प्रयोजकता है। यागोत्पत्त्यपूर्वसे जायमान (उत्पन्न होने वाला) फलापूर्वका ही आरादुपकारक (प्रयाजादि) सहकारक है। यद्यपि इस तरहसे

अपूर्वोंके अनेक भेद हैं तथापि अपूर्वोत्पत्तिमें सहकारी ही सब अङ्ग होते हैं ।

वेदलक्षणविचारः ।

अथ को वेद इति चेत् । उच्यते—अपौरुषेयं वाक्यं वेदः । स च विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेधा-र्थवादभेदात् पञ्चविधः ।

धर्म लक्षणमें वेदका प्रवेश है इसलिये वेद क्या है यह प्रश्न उठता है ? (उच्यते) उत्तर करते हैं—अपौरुषेय वाक्यको ही वेद कहते हैं । वेदके पांच भेद हैं—विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद । वेद-लक्षणमें अपौरुषेय पद नहीं देनेसे अस्मदादिकृत वाक्यमें अतिव्याप्ति होगी इसलिये अपौ-रुषेय पद दिया है । वाक्यपद नहीं देनेसे अपौरुषेय आत्मामें अतिव्याप्ति होगी इस लिये वाक्य पद दिया है । दूसरें प्रमाणोंसे अर्थ ज्ञान होने पर जो बनाया जावे उसे पौरुषेय कहते हैं जैसे चक्षुरादि प्रमाणसे घटज्ञान रहनेपर ही हम लोग 'घटमानय' इत्यादि वाक्यका निर्माण करते हैं इससे यह वाक्य पौरुषेय है तद्भिन्न वाक्यको अपौरुषेय कहना चाहिए । प्रश्न करते हैं—तब तो वेदको भी ईश्वरने प्रमाणान्तरसे अर्थ जानकर बनाया है इसलिये वेद भी पौरुषेय ही है अपौरुषेय कैसे हो सकता है ? उत्तर करते हैं—प्रमाणान्तरसे अर्थ प्राप्तकर ईश्वर ने वेद नहीं रचा है किन्तु "वेदाध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकम् । वेदाध्ययनत्वाद्वर्तमानवेदाध्ययनवत्" इन अनुमान से वेदाध्ययन गुरुपरंपरागत है और वेद भी गुरुपरम्परागत ही है और 'यः कल्पः स कल्पपूर्वकः' इस न्यायसे संसार अनादि है और परमेश्वर सर्वज्ञ है इसलिये पूर्व पूर्व कल्पीयवेदको स्मरण कर लोगोंको उपदेश देते हैं निर्माण नहीं करते अतः वेदमें अपौरुषेयत्व सिद्ध हुआ ।

विधिमीमांसा ।

तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः । स च तादृशप्रयोजनवदर्थ-विधानेनार्थवान् यादृशं चार्थं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं विधत्ते—यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इति विधिर्मानान्तरेणाप्राप्तं स्वर्गप्रयोजनवद्धोमं विधत्ते अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेदिति वाक्यार्थबोधः ।

उन वेदोंके भेदोंमें अज्ञात अर्थको समझाने वाले वेद भागको विधि कहते हैं । यह विधि-जो अर्थ (प्रमाणान्तर) दूसरे प्रमाणसे ज्ञात नहीं है तादृश अर्थको विधान करती है इसलिये प्रमाणान्तरसे अज्ञात प्रयोजनवद् अर्थके विधानसे ही विधि सार्थक होती है । जैसे दूसरे प्रमाणसे स्वर्गप्रयोजन वाला होम का ज्ञान नहीं है केवल

"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इसीसे वेद ज्ञात होता है इसलिये इस वेद भागको विधि कहनी चाहिए। यहां पर विधिमें कर्मका ही करणत्वेन अन्वय करके इस वेद का 'अग्निहोत्रहोमसे स्वर्ग का उत्पादन करे' यह अर्थ समझना चाहिए।

यत्र कर्म मानान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रं विधत्ते—यथा 'दध्ना जुहोती'त्यत्र होमस्याग्निहोत्रं जुहुयादित्यनेन प्राप्तत्वाद्धोमोद्देशेन दधिमात्रविधानं, 'दध्ना होमं भावयेदि'ति। यत्र तूभयमप्राप्तं तत्र विशिष्टं विधत्ते—यथा 'सोमेन यजेते' त्यत्र सोमयागयोरप्राप्तत्वात्सोमविशिष्टयाग-विधानम। सोमपदे मत्वर्थलक्षणया सोमवता यागेनेष्टं भावयेदिति वाक्यार्थबोधः।

जिस गुण विधिमें कर्म (यागादि) दूसरे प्रमाणसे ही सिद्ध हो वहां पर उसी कर्मको उद्देश करके अप्रधान गुण मात्रका विधान होता है जैसे 'दध्ना जुहोति' यहां पर 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इस कर्म विधिसे होम (याग) सिद्ध है इस लिये होम को उद्देश कर दधि (गुण) मात्रका विधान होता है। 'दध्ना जुहोति'—इस वाक्यसे दधिसे हवन करे यह बोध होता है। जहां पर गुण और कर्म दोनों अप्राप्त (असिद्ध) हैं वहां दोनों (गुण विशिष्ट कर्म) का विधान होता है जैसे 'सोमेन यजेत' यहां पर सोम और याग दोनों असिद्ध हैं इसलिये सोमविशिष्ट यागका विधान होता है। यहां पर सोम (गुण) मात्रका ही विधान नहीं हो सकता है क्योंकि सोमलता द्रव्य है अतः क्रियात्मक याग सोम नहीं हो सकता इस लिये सोम पदमें मत्वर्थ लक्षणा (सोमको सोमवत् में लक्षणा) करेंगे अर्थात् 'अर्श आदिभ्योऽच्' इस पाणिनीय सूत्रसे सोमः अस्ति अस्मिन् इस अर्थमें अच् प्रत्यय करेंगे। "सोमवान् यागसे इष्ट (स्वर्ग) का उत्पादन करे" यह वाक्यार्थ होता है॥

वाक्यभेददोषपरिहारः।

न चोभयविधाने वाक्यभेदः, प्रत्येकमुभयस्याविधानात्, किन्तु विशिष्टस्यैव विधानात्।

यहांपर यह शंका उठती है कि गुण और कर्म दोनोंके विधानसे वाक्यभेद होगा और वाक्यभेद किसीको भी इष्ट नहीं है। क्योंकि जहांपर वाक्यभेद होता है वहां आठ दोष होते हैं। जैसे—'व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' यहांपर यदि पहले व्रीहिसे याग किया जाय तो 'यवैर्वा' इस शास्त्रमें स्वार्थानुष्ठापकत्व (यवसे अनुष्ठान बतलानेवाला) रूप जो प्रामाण्य है उसका परित्याग करना पड़ता है। (१) और यवशास्त्रमें स्वार्थान-

नुष्ठापकत्वरूप अप्रामाण्यका स्वीकार करना पड़ता है। (२) और यवसे अनुष्ठान करनेपर यव शास्त्रमें छोड़ा हुआ प्रामाण्यका स्वीकार करना पड़ता है। (३) और स्वीकृत अप्रामाण्यका परित्याग करना पड़ता है। (४) इस तरहसे यव शास्त्रमें चार दोष हैं। इसी तरह यदि प्रथम यवसे अनुष्ठान किया जाय तो व्रीहि शास्त्रमें प्रामाण्यका परित्याग करना पड़ता है। (१) एवं व्रीहि शास्त्रमें अप्रामाण्यका स्वीकार करना पड़ता है। (२) तथा व्रीहिसे अनुष्ठान करनेपर व्रीहि शास्त्रमें पूर्वपरित्यक्त प्रामाण्यका स्वीकार। (३) और व्रीहि शास्त्रमें पूर्व स्वीकृत अप्रामाण्यका त्याग करना पड़ता है। (४) इस तरह कुल मिलाकर आठ दोष होते हैं वैसे ही प्रकृतमें वाक्य भेदसे आठदोष होंगे। व्रीहि यव वाक्यके समान यहांपर भी आठों दोष इष्ट हैं ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि वहां व्रीहि और यवसे पुरोडाश (हवनके लिये पदार्थ) रूप एक ही कार्य होता है इसलिये वाक्यभेद इष्ट है और दूसरी कोई गति नहीं है। प्रकृतमें तो केवल गुणमात्र विधानसे भी काम चल सकता है इसलिये उभय विधानसे वाक्य भेद करना अनुचित है। इस शंकाका अब उत्तर करते हैं जहांपर व्यापार भेदसे प्रत्येक उभय पदार्थ (अलग २ दोनों) का विधान होता है वहींपर व्यापार भेदसे वाक्य भेद होता है। यहां अलग २ दोनों पदार्थोंका विधान नहीं है किन्तु एक ही व्यापारसे गुण विशिष्ट कर्मका विधान होता है इसलिये वाक्यभेद कथमपि नहीं होगा।

गुणविध्यादिभेदः।

न च 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'ति विधिप्राप्तयागोद्देशेन सोमरूपगुणविधानमेवास्तु, सोमेन यागं भावयेदिति किं मत्वर्थलक्षणयेति वाच्यम्। तस्याधिकारविधित्वेनोत्पत्तिविधित्वासंभवात्।

यहांपर यह शंका उठती है कि—ज्योतिष्टोमेन-इत्यादि वाक्यसे सोम याग रूपकर्म सिद्ध है अतः 'सोमेन यजेत' इससे सोमरूप गुणका ही विधान मानना चाहिये विशिष्ट विधानके लिये मत्वर्थमें लक्षणा करनेसे जो गौरव होता है वह भी नहीं होगा 'सोमेन यजेत' इस वाक्यसे 'सोम द्वारा यागकी भावना करे' ऐसा ही अर्थका बोध होगा। इसका उत्तर करते हैं—'ज्योतिष्टोमेन'—यह विधि अधिकार विधि है उत्पत्ति विधि नहीं हो सकती। इसका यह अभिप्राय है कि—कर्मस्वरूप मात्रके बोधकको ही उत्पत्ति विधि कहते हैं और अधिकार विधिके, उत्पत्ति विधि विहित

कर्मके फल विशेषके साथ सम्बन्ध मात्रका बोध होता है। जैसे 'आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति' इस उत्पत्ति विधिसे विहित आग्नेय यागके स्वर्गरूप फलके साथ 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस विधिके सम्बन्ध मात्रका बोध होता है। इसलिये 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामः' यह अधिकार विधि है उत्पत्ति विधि नहीं है। इसी तरह 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामः' इससे सम्बन्ध मात्रका विधान होता है। इसलिये यह भी अधिकार विधि है। उत्पत्ति विधि नहीं है। अतः सोमयाग स्वरूपका ज्ञानके लिये विशिष्ट विधान करना आवश्यक है।

उभयविधित्वम्।

ननु 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यस्येव ज्योतिष्टोमेनेत्यस्याप्युपत्त्यधिकारविधित्वमस्त्विति चेन्। न। दृष्टान्ते उत्पत्तिवाक्यान्तराभावेनान्यथानुपपत्त्या तथात्वाश्रयणात्। किञ्च ज्योतिष्टोमेनेत्यस्योभयविधित्वेऽनेनैव यागस्तस्य फलसंबन्धोऽपि बोधनीय इति सुदृढो वाक्यभेदः। तद्वरं सोमपदे मत्वर्थलक्षणया विशिष्टविधानम्।

यहांपर पुनः शंका होती है कि जैसे 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यह उद्भिद् नामक यागका बोधक है। इसीलिये उत्पत्ति विधि होनेपर भी इससे विहित उद्भिद् यागके पशुरूप फलके साथ सम्बन्धका भी बोध होता है अतः 'उद्भिदा यजेत' यह विधि = उत्पत्ति और अधिकार दोनों विधि हैं इसलिये इस वाक्यसे उद्भिद्नामक यागसे पशु प्राप्त करे, यह शाब्द बोध होता है। इसी तरह 'ज्योतिष्टोमेन' यह भी उत्पत्ति और अधिकार विधि हो सकती है। इसका उत्तर करते हैं—(दृष्टान्ते) 'उद्भिदा यजेत' यहांपर (उत्पत्ति) याग स्वरूपको बतलानेवाला कोई दूसरा वाक्य नहीं है और (अन्यथानुपपत्त्या) याग स्वरूप ज्ञानके विना, यागका संबन्ध विशेषके साथ अन्वय का बोध नहीं हो सकता है। इसलिये अगत्या वहां दोनों विधि मानते हैं। पुनः शंका होती है कि—ज्योतिष्टोमेन' इस वाक्यको भी कर्म और फल उभयविधायकत्व मानना चाहिये और 'सोमेन यजेत' यहांपर मत्वर्थलक्षणाके विना ही गुणका विधान होगा। इसका उत्तर करते हैं (किञ्चेति) यदि 'ज्योतिष्टोमेन' इसीसे कर्म और फल दोनोंका विधान मानाजाय तो इसी (ज्योतिष्टोमेन) वाक्यसे याग और यागका फलके साथ संबन्ध भी समझना होगा तब वाक्य भेद अनिवार्य होजायगा। क्योंकि 'श्रौतव्यापारनानात्वे शब्दानामतिगौरवम्। एकोक्त्यवसितानां तु नार्था-

क्षेपो विरुध्यते" इसका अर्थ यह है कि शब्दोंका श्रौत (शब्दोपात्त) व्यापार अनेक रहे तो अतिशय गौरव होता है (तु) किन्तु (एकोक्त्यवसितानाम्) एक शक्तिसे सम्बन्ध अर्थात् एक ही व्यापार जहाँ है वहांपर दूसरे अर्थका आक्षेप विरुद्ध नहीं होता। प्रकृतमें दोनोंके विधान करनेसे व्यापारद्वय मानना ही पड़ेगा अतः गौरवरूप वाक्यभेद अवश्य होगा। किन्तु 'सोमेन यजेत' इसको गुणविशिष्ट यागविधायकत्व माननेपर वाक्यभेद दोष नहीं होता क्योंकि विशिष्ट विधिमें विशेष्यका विधान-फलितार्थ रहता है अतः श्रूयमाण व्यापार द्वारा विशेषणका पृथक् विधान नहीं होनेसे भिन्न व्यापार नहीं करना पड़ता। 'सोमेन यजेत' इस वाक्यको विशिष्ट विधायकत्वमें यद्यपि मत्वर्थ लक्षणा दोष होता है तथापि वाक्यभेदसे लक्षणारूप दोष न्यून है क्योंकि लक्षणा पदका दोष है और वाक्यभेद वाक्यका दोष है। पददोष और वाक्यदोषमें पददोषको ही स्वीकार करना चाहिये। इसलिये 'ज्योतिष्टोमेन' इसको उभय विधायक माननेसे जायमान वाक्यभेद दोषकी अपेक्षा सोमपदमें मत्वर्थलक्षणा मानकर (सोमेन) इस वाक्यसे सोमविशिष्ट यागका विधान ही श्रेष्ठ है।

विधिश्चतुर्विधः।

विधिश्चतुर्विधः–उत्पत्तिविधि–विनियोगविधि–रधिकारविधिः–प्रयोग–विधिश्चेति।

विधि के चार भेद हैं। उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, अधिकारविधि और प्रयोगविधि।

उत्पत्तिविधिः।

तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः। यथा 'अग्निहोत्रं जुहोती'ति। अत्र च विधौ कर्मणः करणत्वेनान्वयः, अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेदिति।

उनमें कर्म (यागादि) स्वरूप मात्रके बोधक विधिको उत्पत्तिविधि कहते हैं। यहांपर मात्रपदसे यह सूचित होता है कि उत्पत्तिविधिसे कर्मको फलके साथ सम्बन्ध-का बोध नहीं होता है। 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यह श्रौत अधिकार विधि ही है। परन्तु यागस्वरूप बोधक कोई दूसरी विधि नहीं है इसलिये उत्पत्ति विधिका फलितार्थ लाभ होता है, इसलियें इस लक्षणमें कोई दोष नहीं लगता है। उदाहरण बतलाते हैं जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस विधिमें कर्म (अग्निहोत्र) का करणत्वेन अन्वय होता

है इसलिये इस वाक्यसे 'अग्निहोत्रनामके यागसे इष्टका उत्पादन करे' इस अर्थ-का बोध होता है। वह कौनसा इष्ट पदार्थ है? इस तरह की आकांक्षा होनेपर 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस अधिकार विधिसे अवगत स्वर्गरूप इष्ट संबन्ध की उपपत्ति होती है। यहांपर यह शंका होती है कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्यमें, इष्टबोधक कोई पद नहीं है तब 'अग्निहोत्र होमसे इष्टका उत्पादन करे' यह वाक्यार्थ बोध कैसे होगा? इसका यह उत्तर है कि इष्टके विना विधिवाक्य, यागमें पुरुष का प्रवर्तक नहीं हो सकता अतः विधिसे इष्टका आक्षेप होगा।

यागस्य रूपद्वयम्।

ननु यागस्य द्वे रूपे द्रव्यं देवता च। तथा च रूपाश्रवणेऽग्निहोत्रं जुहोतीति कथमुत्पत्तिविधिः? अग्निहोत्रशब्दस्य तु तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयत्वादिति चेत्। न। रूपाश्रवणेऽप्यस्योत्पत्तिविधित्वात्। अन्यथा रूपश्रवणात् 'दध्ना जुहोती' त्ययमेवोत्पत्तिविधिः स्यात्। तथा च 'अग्नि-होत्रं जुहोती'ति वाक्यमनर्थकं स्यात्।

यहांपर यह शंका होती है कि—यागके दो रूप होते हैं द्रव्य–और देवता। 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस विधिमें द्रव्य या देवताका श्रवण नहीं है अतः यह उत्पत्ति विधि कैसे हुई? यद्यपि अग्निहोत्र शब्दका श्रवण है तथापि तत्प्रख्य (जिसका स्वरूप आगे बतलायेंगे) न्यायसे वह अग्निहोत्र यागका नाम है। इसका उत्तर करते हैं–प्रकृतमें रूपका श्रवण न होनेपर भी इसको उत्पत्ति विधि माननी चाहिये। यहां यह अभिप्राय है कि इस वाक्यमें यागरूपके श्रवण न होनेपर भी विना रूपके उत्पत्ति विधि नहीं हो सकती अतः सामान्यतः रूप की कल्पना करते हैं। कौन सा वह रूप है इस तरह विशेष आकांक्षा होनेपर 'दध्ना जुहोति' इस गुण विधिसे दधिरूप द्रव्य और 'अग्निर्ज्योति' इत्यादि मन्त्रवर्णसे अग्निरूप देवताका ज्ञान होता है। अतः यहांपर विशेषतया कर्मरूपके श्रवण न होनेपर भी यागरूप सामान्य कर्म मात्रका बोधक होनेसे उत्पत्ति विधि हो सकती है। (अन्यथा) रूपके श्रवण होने से ही यदि उत्पत्ति विधि हो तो 'दध्ना जुहोति' यह दधिरूप द्रव्यात्मक कर्मरूपके श्रवण-से अग्निहोत्र याग रूपकर्म की उत्पत्ति विधि होगी तब 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह वाक्य अनर्थक हो जायगा एवं 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह अग्निरूप गुणका विधायक भी नहीं हो सकता है क्योंकि 'अग्निर्ज्योति' इस अग्निवर्णसे भी अग्निरूप गुण प्राप्त है अतः 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इस न्यायसे गुण-विधायक

नहीं हो सकता और 'अग्निहोत्रं जुहोति' इसको नामधेय आगे कहेंगे उससे विरोध भी लगेगा। इस लिये 'अग्निहोत्रं' यह वाक्य अनर्थक होगा ही। और यदि 'दध्ना जुहोति' इसीको उत्पत्ति विधि मानेंगे तो 'पयसा जुहोति' यह वाक्य भी अनर्थक होजायगा। और यदि 'पयसा जुहोति' इसी को उत्पत्तिविधि मानेंगे तो 'दध्ना जुहोति' यह वाक्य ही व्यर्थ हो जायगा अथवा कर्मान्तरका विधायक होगा, क्योंकि 'दध्ना जुहोति' इस विधिसे दधि विशिष्ट ही यागका विधान होगा अतः उसमें पयोरूपगुणका अन्वय नहीं हो सकता। तब अनेक अदृष्ट याग की कल्पना करनी होगी। 'अग्निहोत्रं जुहोति' इसको उत्पत्ति विधि मानने से तो 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति' इत्यादि सब वाक्योंको 'खले कपोत' न्यायसे एक साथ ही अन्वय हो जाता है, अर्थात् जैसे खलियानमें सब कबूतर एक ही साथ गिरते हैं उसी तरह एक ही समयमें दध्यादि गुणोंकी विधायकता माननेसे अनेक अदृष्ट की कल्पना नहीं करनी पड़ती है, इसलिये 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्यको उत्पत्ति विधायकत्व ही है।

विनियोगविधिः।

अङ्गप्रधानसंबन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः। यथा 'दध्ना जुहो-तो'ति। स हि तृतीयया प्रतिपन्नाङ्गभावस्य दध्नो होमसंबन्धं विधत्ते दध्ना होमं भावयेदिति।

अब विनियोग विधिका लक्षण करते हैं द्रव्य देवतादि रूप अङ्गोंको दूसरे वाक्यों से विहित प्रधान (होमादि) के साथ सम्बन्धके बोधक जो विधि उसे विनियोग विधि कहते हैं। जैसे 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य से 'दध्ना' इस तृतीयाश्रुतिसे बोधित दधि रूप अङ्गको 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्यसे बोधित अग्निहोत्र रूप प्रधानके साथ सम्बन्धका विधान होता है इस लिये 'दध्ना जुहोति' यह विनियोग विधि है। 'दध्ना जुहोति' इसवाक्य से 'दधिसे होमकी भावना करे' यह बोध होता है।

गुणविधौ च धात्वर्थस्य साध्यत्वेनान्वयः। क्वचिदाश्रयत्वेनापि यथा 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुया'दित्यत्र दधिकरणत्वेनेन्द्रियं भावयेत्। तच्च किन्निष्ठमित्याकाङ्क्षायां संनिधिप्राप्तहोम आश्रयत्वेनान्वेति।

यहां शङ्का होती है कि—'दध्ना जुहोति' इसस्थलमें तो यही अर्थ होगा कि 'दधिसे होमकी भावना करे' और होमसे इष्टकी भावना करे इस बोधमें होममें [illegible] करण है इसलिये [illegible] भावनामें होमका

साध्यत्वेन अन्वय होगा और इष्टकी भावनामें होमका करणत्वेन अन्वय होगा। तब दो विरुद्ध त्रिककी आपत्ति होगी। जैसे 'दध्ना जुहोति' यहां पर एक ही बार धातु उच्चरित है इसलिये तन्त्रसे जैसे एक ही बार उच्चरित शब्दका अनेक अर्थ होता है ऐसे ही दधि और किञ्चिदिष्में अन्वय करना होगा तब होममें उपादेयत्व विधेयत्व और अप्रधानत्व इन तीनोंकी और उद्देश्यत्व, अनुवाद्यत्व और प्रधानत्व इन तीनोंकी आपत्ति होगी। क्योंकि इष्टमें जब होमका अन्वय होता है तब इष्ट को उद्देश्य करके होमका उपादान करते हैं। इष्ट (स्वर्गादि) के लिये होम आवश्यक है इसलिये होममें उपादेयत्व रहा (१) एवं इष्टको अनुवाद करके होमका विधान करते हैं इसलिये विधेयत्व रहा (२) और होम साधन है इसलिये अप्रधानत्व रहा (३) इसी तरहसे दधिमें जब अन्वय करते हैं तब होमको उद्देश्य करके दधिका उपादान करते हैं इसलिये होममें उद्देश्यत्व रहा (१) तथा होमको अनुवाद करके दधिका विधान करते हैं इसलिये अनुवाद्यत्व रहा (२) और होम साध्य है इसलिये प्रधानत्व भी रहा (३)इस तरह विरुद्ध त्रिकद्वयकी आपत्ति हुई। इसलिये 'दध्ना जुहोति' यहांपर दधि शब्द गुणपरक नहीं है। इस पूर्वपक्षका उत्तर करते हैं कि जहांपर एकको ही समानकालमें तन्त्रसे साध्यत्वेन और करणत्वेन अन्वय होता हो वहीं पर विरुद्ध त्रिकद्वयका आपादन (आपत्ति) दोष हो सकता है, जैसे— 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' यहांपर वाजपेय शब्दका अर्थ होता है पान करने योग्य सुरा द्रव्य। तब वाक्यसे यदि वाजपेयरूप गुणका विधान करें तो वाजपेय शब्द को मत्वर्थमें लक्षणा करनी होगी अतः स्वाराज्य (स्वर्गसाम्राज्य) रूपफल और वाजपेयरूप गुण दोनोंका तन्त्रसे एक (वाजपेयोऽस्ति अस्मिन्) ही समय में धात्वर्थमें अन्वय होता है इस तरह पूर्वपक्ष द्वारा वहां पर विरुद्ध त्रिकद्वयका आपादन (आपत्ति) करते हुए वाजपेयको नामधेयत्वका सिद्धान्त किया गया है। परन्तु प्रकृतमें तन्त्रसे धात्वर्थ होमका साध्यत्वेन और साधनत्वेन अन्वय नहीं करते हैं किन्तु साध्यत्व से ही करते हैं इसलिये होममें उद्देश्यत्व, अनुवाद्यत्व और प्रधानत्व ही। उपादेयत्व (ग्रहण) विधेयत्व (विधान) और अप्रधानत्व नहीं है अतः विरुद्ध त्रिकद्वयकी आपत्ति नहीं हो सकती। इससे यह सिद्ध हुआ कि गुण विधिमें धात्वर्थ होमका साध्यत्वेनैव अन्वय होता है। यदि गुण विधिमें धात्वर्थका साध्यत्वेनैव अन्वय होगा तब 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' यहांपर होमका साध्यत्वेनैव अन्वय होनेसे 'दधिसे होम करे' इतना ही अर्थ होगा। इन्द्रियका साध्यत्वेन अन्वय नहीं होनेसे इन्द्रिय

फल (इष्ट) नहीं होगा। यदि इस वाक्यसे गुणका विधान नहीं मानेंगे तो दधिपद व्यर्थ हो जायगा। यदि गुण और होम दोनोंका विधान मानेंगे तो पूर्वोक्तरीतिसे विरुद्ध त्रिकद्वयकी आपत्ति होगी। इसलिये कहींपर धात्वर्थका आश्रयत्व सम्बन्धसे भी अन्वय होता है। अथवा—'क्वचिदाश्रयत्वेनापि' इस ग्रन्थका व्याख्यान इस तरह करना चाहिये कि गुणविधिमें सभी जगह धात्वर्थका साध्यत्वेनैव अन्वय करना चाहिए। जहांपर दध्यादिगुण के करणत्वकी उपस्थिति तृतीयासे होती है वहां दध्यादिगुणका करणत्व प्रत्ययार्थ हुआ और प्रकृत्यर्थके प्रति प्रत्ययार्थ प्रधान होता है। अतः दध्यादिकरणत्व दधिके प्रति भी प्रधान है अतः उसका फलभावनामें करणत्वेन अन्वय होगा। एतादृशस्थलमें धात्वर्थका आश्रयत्व (वृत्तित्व) सम्बन्धसे अन्वय होता है। इस मतमें क्वचित् शब्दका अर्थ होगा कि जहांपर दध्यादिगुणकरणत्वका करणत्वेन फलभावनामें विधान होता है वहां पर। तत्र 'दध्नेन्द्रिय' यह वाक्य गुण विधायकही नहीं है इसलिये यहां आश्रयत्व सम्बन्धसे अन्वय न होनेपर भी कोई दोष नहीं है। 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इसका अर्थ होगा कि दधि करणत्वसे इन्द्रियरूप फलकी भावना करे। (तच्च) तृतीया से उपस्थित दधिकरणत्व किसमें है यह आकांक्षा होनेपर सन्नीपवर्ति धात्वर्थ होमका आश्रयत्व (वृत्तित्व) सम्बन्धसे अन्वय होता है। तत्र 'होमवृत्ति दधिकरणत्वसे इन्द्रियकी भावना करे' यह वाक्यार्थ बोध होगा। यहांपर यह अभिप्राय है कि कर्त्ता के व्यापारके विना कारण नहीं रह सकता है और होम वाक्यान्तरसे विहित है अतः होम और दधि गुण दोनोंका विधान नहीं हो सकता है होममें दधि सम्बन्धका विधान करेंगे तो इन्द्रियरूप फलका उपादान व्यर्थ होगा। यदि होममें फल सम्बन्धका विधान करेंगे तो दधिपद व्यर्थ हो जायेगा। फल और गुण दोनोंका सम्बन्ध विधान नहीं हो सकता क्योंकि प्राप्त कर्ममें उभयविधानसे वाक्यभेद होता है और 'प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः। अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोप्येकयत्नतः' इस वचनसे विरोध भी होगा। इस वचनमें कर्मपद द्रव्यादिका उपलक्षण है। गुणपद प्रधानका उपलक्षण है तब यह अर्थ होगा कि कर्म या द्रव्यादिगुण वाक्यान्तरसे प्राप्त रहे तो उसमें अनेक गुण या प्रधानका विधान नहीं हो। अप्राप्त में तो एक यत्नसे अनेकोंका विधान हो सकता है। अतः प्रकृत में तृतीयासे उपस्थित दधिकरणत्वमें होमनिरूपितत्वेन फल भावनाके प्रति करणत्वका विधान किया जाता है।

विधेः श्रुत्यादिषट्प्रमाणानि ।

एतस्य विधेः सहकारिभूतानि षट्प्रमाणानि—श्रुति–लिङ्ग–वाक्य–प्रकरण–स्थान–समाख्यारूपाणि । एतत्सहकृतेनानेन विधिनाङ्गत्वं परोद्देशप्रवृत्तकृतिसाध्यत्वरूपं पारार्थ्यापरपर्यायं ज्ञाप्यते ।

विनियोगविधिके सहकारी छै प्रमाण हैं। जैसे—श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या । इसके (सहकृत) साथ होकर निवियोग विधि अंगत्वको समझाती है । (परोद्देश प्रवृत्त) स्वर्गादि फलके उद्देश्यसे स्वर्गादिकारणीभूतयागादिमें प्रवृत्त पुरुषका (कृतिसाध्य) यत्नव्याप्य जो हो उसीको अंग कहते हैं। जैसे स्वर्गादि फलके लिये दर्शादियागमें प्रवृत्त पुरुषका यत्नव्याप्य (साध्य) प्रयाजादि है इसलिये प्रयाजादि उस (दर्श) का अङ्ग है अंगत्वका ही पर्य्याय पारार्थ्य है ।

तत्र निरपेक्षो रवः श्रुतिः । सा च त्रिविधा—विधात्री, अभिधात्री, विनियोक्त्री च । तत्राद्या लिङाद्यात्मिका । द्वितीया व्रीह्यादिश्रुतिः । यस्य च शब्दस्य श्रवणादेव संबन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री ।

श्रुतिका लक्षण करते हैं—प्रमाणान्तरकी जो अपेक्षा नहीं रखे ऐसे रव (शब्द) को श्रुति कहते हैं । रवमात्रको श्रुति कहनेसे घटादि शब्दमें अतिव्याप्ति होगी अतः निरपेक्ष कहा । घटादि शब्द तो प्रमाणान्तर सापेक्ष है । इस श्रुतिके तीन भेद हैं । विधात्री (विधान करनेवाली) अभिधात्री (अभिधान करनेवाली) और विनियोक्त्री (विनियोग करनेवाली) । उनमें लिङादिको विधात्री कहते हैं । व्रीह्यादि शब्दको अभिधात्री कहते हैं । और जिस शब्दके श्रवणमात्रसे ही सम्बन्ध ज्ञान हो उसे विनियोक्त्री कहते हैं ।

विनियोक्त्री श्रुतिस्त्रिधा ।

सापि त्रिविधा—विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा, एकपदरूपा चेति । तत्र विभक्तिश्रुत्या अङ्गत्वं यथा 'व्रीहिभिर्यजेते'ति तृतीयाश्रुत्या व्रीहीणां यागाङ्गत्वम् । तदपि पुरोडाशप्रकृतितया । यथा पशोर्हृदयादिरूपहविःप्रकृतितया यागाङ्गत्वम् ।

विनियोक्त्री श्रुति भी तीन प्रकार की है । जैसे विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा और एकपदरूपा। उनमें विभक्ति श्रुतिसे जो अंग होता है उसका उदाहरण देते हैं । जैसे 'व्रीहिभिर्यजेत' यहां तृतीया श्रुतिसे व्रीहि यागका अङ्ग होता है। व्रीहिसे पुरोडाश (हविर्विशेष) बनता है और पुरोडाश यागका अङ्ग है इसलिये व्रीहि भी यागका

अंग होता है। पुरोडाशकी प्रकृति होनेसे व्रीहिके यागांग होनेमें दृष्टान्त बतलाते हैं— जैसे यागका अंगभूत पशुहृदयादि रूप हविषकी प्रकृति होनेसे ही पशु अङ्ग होता है। वह साक्षात् यागका अंग नहीं है किन्तु 'अथ हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ वक्षस.' इस शास्त्रसे हृदयादिरूप अवयव ही साक्षात् अंग है। इसी तरह साक्षात् अंग पुरोडाश है और उसके द्वारा व्रीहि भी यागांग होता है।

तृतीयाविभक्तिरूपाया उदाहरणम्।

'अरुणया एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाती' त्यस्मिन् वाक्ये आरुण्यस्यापि तृतीयाश्रुत्या क्रयाङ्गत्वम्। तदपि गोरूपद्रव्यपरिच्छेदद्वारा न तु साक्षात्, अमूर्तत्वात्।

'अरुणया' इस वाक्यमें तृतीया श्रुतिसे (आरुण्य) रक्तवर्ण भी सोम क्रयणका अंग होता है। आरुण्य अमूर्त (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मनको मूर्त कहते हैं इससे भिन्न) है इससे क्रयण नहीं हो सकता इसलिये वह साक्षात् अङ्ग नहीं हो सकता है किन्तु क्रयणका साक्षात् हेतुभूत गोरूपद्रव्यपरिच्छेद (दूसरेकी व्यावृत्तिकर द्रव्यका निश्चय) द्वारा अङ्ग होता है। यहां पर यह अभिप्राय है कि कारकका क्रियामें ही अन्वय होता है इस नियमसे आरुण्यमें तृतीयाका श्रवण होनेके कारण पहले क्रयण क्रियामें ही साक्षात् अन्वय होगा परन्तु आरुण्य गुणसे क्रयण बाधित है इसलिए पश्चात् गोरूप द्रव्यमें अन्वय होगा।

द्वितीयारूपाया विनियोक्त्र्या उदाहरणम्।

'व्रीहीन्प्रोक्षती'ति प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वं द्वितीयाश्रुत्या। तच्च प्रोक्षणं न व्रीहिस्वरूपार्थम्, तस्य तेन विनाऽप्युपपत्तेः। किन्त्वपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तम्। व्रीहीनप्रोक्ष्य यागानुष्ठानेऽपूर्वानुपपत्तेः। एवं सर्वेष्वङ्गेष्वपूर्वप्रयुक्तमङ्गत्वं बोध्यम्।

'व्रीहीन्प्रोक्षति' यहां पर द्वितीया श्रुतिसे प्रोक्षण व्रीहिका अङ्ग होता है। व्रीहिका अङ्गभूत प्रोक्षण व्रीहिस्वरूपार्थ नहीं है क्योंकि प्रोक्षणके विना भी व्रीहिका स्वरूप पहलेसे ही निष्पन्न है। किन्तु प्रोक्षणसे अपूर्वकी उत्पत्ति होती है अतः प्रोक्षण अपूर्वका कारण होनेसे व्रीहिका अङ्ग होता है। जैसे अनुपनीत ब्राह्मण बालकके द्वारा किया गया वेदाध्ययनसे अपूर्वकी उत्पत्ति नहीं होती इसी तरह व्रीहि प्रोक्षणके विना यागानुष्ठानसे अपूर्वकी उत्पत्ति नहीं होती है। इसी तरह अवघातादि सभीको अपूर्व प्रयुक्त ही अङ्ग समझना चाहिए।

द्वितीयाविनियोक्त्र्या उदाहरणम्।

एवम् 'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्त' इत्यत्र द्वितीयाश्रुत्या मन्त्रस्याश्वाभिधान्यङ्गत्वम्।

'इमामगृभ्णन्' इस मन्त्र का यह अर्थ है कि (ऋतस्य) सत्य फलसम्बन्धि (इमां रशनां) बन्धनरज्जुको (अगृभ्णन्) ग्रहण किया। इस वाक्यमें (अश्वाभिधानीम्) इस द्वितीया श्रुतिसे यह मन्त्र अश्वाभिधानी (अश्वबन्धनरस्सी) का अङ्ग होता है।

सप्तमीविभक्तिविनियोक्त्र्या उदाहरणम्।

'यदाहवनीये जुहोती' त्याहवनीयस्य होमाङ्गत्वं सप्तमीश्रुत्या। एवमन्याऽपि विभक्तिश्रुत्या विनियोगो ज्ञेयः।

"यदाहवनीये जुहोति" यहां पर सप्तमी श्रुतिसे आहवनीय (अग्नि विशेष को होमका अंग समझना चाहिये। उससे 'आहवनीय अग्निमें होम करता है' यह बोध होता है, इसी तरह विभक्ति श्रुतिसे दूसरेको भी विनियोग (अंग) जानना चाहिये। जैसे 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति' इत्यादिमें तृतीया श्रुतिसे दधि और दूध प्रभृति, होमका अंग होता है।

'पशुना यजेते' त्यत्रैकत्वपुंस्त्वयोः समानाभिधानश्रुत्या कारकाङ्गत्वम्। यजेतेत्याख्याताभिहितसंख्याया भावनाङ्गत्वं समानाभिधानश्रुतेरेव पदश्रुत्या च यागाङ्गत्वम्।

एकाभिधानरूप और एकपदरूप विनियोक्त्रीका उदाहरण देते हैं। 'पशुनायजेत' यहांपर (टा) प्रत्ययके ही करणरूपकारक, पुंस्त्व और एकत्वसंख्या ये तीन अर्थ हैं इसलिये टारूप एकाभिधान (एकवाचक) श्रुतिसे एकत्व और पुंस्त्व ये दोनों करणरूप कारकके अंग होते हैं और 'पशुना' इस एकपदश्रुतिसे पशुरूप द्रव्यके अंग होते हैं। इसी तरह 'यजेत' यहांपर आख्यात (तङ्) के ही भावना और एकत्व संख्या अर्थ हैं। इसलिये (तरूप) एकाभिधानश्रुतिसे एकत्वसंख्या भावनाकी अंग होती है और (यजेत) इस एक पदश्रुतिसे संख्या यागकी अंग होती है।

अमूर्ताया अपि भावनाङ्गत्वम्।

न चामूर्तायास्तस्याः कथं भावनाङ्गत्वमिति वाच्यम्। कर्तृपरिच्छेदद्वारा तदुपपत्तेः। कर्ता चात्रोपलक्ष्यः।

भावनाया आख्यातवाच्यत्वम् ।

आख्यातेन हि भावनोच्यते । सा च कर्तारं विनानुपपन्नेति तमाक्षिपति ।

यहां यह पूर्वपक्ष होता है कि 'पशुना यजेत' यहांपर संख्या भावना या यागकी अंग नहीं हो सकती है क्योंकि संख्या गुण है इसलिए अमूर्त हुई और अमूर्तरूपादि कहीं अंग नहीं देखा गया है। मूर्तव्रीहि आदि द्रव्य ही अंग होता है। इसका उत्तर करते हैं कि कर्तामें अन्वय द्वारा संख्या भावना या यागकी अंग हो सकती है। पुनः शंका होती है कि संख्याको आख्यातार्थ कर्ताकी ही अङ्ग मानना उचित है आख्यातका अर्थ कर्ता ही है भावना नहीं है क्योंकि कर्ताके व्यापारको ही भावना कहते हैं। और धातुसे ही कर्ताके व्यापारका लाभ हो सकता है। इसमें वैयाकरण शिरोभूषण भट्टोजीदीक्षितका वचन भी है—"फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः" इसका अर्थ कौण्डभट्टने अपने वैयाकरणभूषणसारमें इस तरह किया है कि विक्लित्यादि रूप फल (सीझना) और भावना रूप व्यापार ये दोनों धातुके अर्थ हैं व्यापाराश्रय (कर्ता) और फलाश्रय (कर्म) ये दोनों तिङ् (आख्यात) के अर्थ हैं। कर्ताको आख्यातका अर्थ होनेमें कोई प्रमाण नहीं है यह कहना केवल साहस मात्र है क्योंकि "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" इस पाणिनीय सूत्रसे बढ़कर और कौन प्रमाण होगा। इस सूत्रमें 'कर्तरि कृत्' इस सूत्रसे कर्तरिपदका अपकर्ष होता है। इसलिये इस सूत्रका अर्थ होता है कि अकर्मक धातुसे कर्ता और भावमें एवं सकर्मक धातुसे कर्म और कर्तामें ल प्रत्यय हो। जिस प्रत्ययका जिस अर्थमें विधान किया जाता है उस प्रत्ययका वही अर्थ होता है। स्थानीके अर्थको कहनेमें जो समर्थ हो उसीको आदेश कहते हैं। अतः ल के स्थानमें आख्यात आया है इसलिये आख्यातार्थ कर्ता ही है। अतः संख्या एकाभिधानश्रुतिसे कर्ताकी ही अंग है यह सिद्ध हुआ। इसका उत्तर कहते हैं कि भावना ही आख्यातार्थ है। कर्ता आख्यातार्थ नहीं है, वह तो आपेक्षलभ्य होता है। आक्षेप शब्दका अर्थ है अनुमान या अर्थापत्ति। इसलिये कर्ताका अनुमान अथवा अर्थापत्तिसे लाभ होगा। "भावना क्वचिदाश्रिता व्यापारविशेषत्वात्" इस अनुमानद्वारा भावनामें क्वचिदाश्रितत्व सिद्ध होनेसे भावना कर्ता ही में आश्रित हो सकती है। अतः कर्ताका लाभ हो गया। एवं जिसके बिना जो अनुपपन्न (असम्भव) हो उससे उसका

आक्षेप होता है। जैसे देवदत्त स्थूल है किन्तु दिनमें भोजन नहीं करता इस वाक्यसे भोजनके विना स्थूल नहीं हो सकता और दिनमें भोजन नहीं करता है अतः रात्रि भोजनका आक्षेप होता है। इसी तरह प्रकृतमें कर्ताके विना भावना नहीं रह सकती अतः भावनासे कर्ताका आक्षेप होगा। भावनासे किसी अचेतनका आक्षेप करेंगे ऐसी शंका नहीं हो सकती है क्योंकि कृतिरूप भावना अचेतनमें नहीं रह सकती है अतः उससे अचेतनका आक्षेप नहीं होगा। शब्दसे उपस्थित संख्याका शब्दसे अनुपस्थित कर्तामें अन्वय कैसे होगा यह भी सन्देह नहीं कर सकते हैं क्योंकि आख्यात को कर्तामें लक्षणा करते हैं इसलिये कर्ताकी भी उपस्थिति शब्द से ही होती है। कर्ताको ही आख्यातार्थ मानिये और भावनाका आक्षेप सेही बोध होगा ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि कर्ताका कृतिमान् अर्थ है और 'आकृत्यधिकरण' न्यायसे जैसे घटादि शब्दका घटत्वादि जाति अर्थ मानते हैं और व्यक्तिका आक्षेप करते हैं। वैसे ही भावनारूप कृतिमें ही आख्यातकी शक्ति है क्योंकि कर्तामें आख्यातकी शक्ति माननेसे शक्यतावच्छेदक (धर्म) कर्तृत्व स्वरूप कृति अनेक हैं अतः शक्यतावच्छेदकमें गौरव होगा। परन्तु कृतिमें शक्ति माननेसे शक्यतावच्छेदक कृतित्व होगा और कृतित्व तो जाति होनेसे एक है इसलिये शक्यतावच्छेदकमें लाघव होगा। अतः भावना ही आख्यातार्थ है। भावनाको आख्यातार्थ माननेपर 'लः कर्मणि' इस सूत्रसे विरोध नहीं हो सकता है क्योंकि इस सूत्रमें कर्तृ कर्म पदका भावप्रधाननिर्देश (जाति शक्ति) से कर्तृत्व और कर्मत्व ही अर्थ होगा। और 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने, बहुषु बहुवचनम्'' इन सूत्रोंके साथ एकवाक्यतासे 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इस सूत्रका एक कर्ता रहे तो एकवचनात्मक लकार हो और दो कर्ता रहे तो द्विवचनात्मक लकार हो इत्यादि अर्थ होता है। आख्यातार्थ भावना माननेसे ''देवदत्तेन पचति'' इत्यादि प्रयोग होने लगेगा क्योंकि तिङ्, कृत्, तद्धित और समाससे कर्ता अनुक्त रहने पर तृतीया होती है इसलिये प्रकृतमें भी आख्यातसे कर्ता अनुक्त रहनेसे तृतीया ही होगी ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि कर्तृवृत्ति संख्या अनुक्त हो तो तृतीया हो यही 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इस सूत्रका अर्थ है। प्रकृतमें देवदत्तगत एकत्व संख्या तिङ्से उक्त है इसलिये देवदत्त शब्दसे तृतीया नहीं होगी। 'कर्तरि कृत्' इस सूत्रमें कर्तृपदका कर्ता ही अर्थ है इसलिये कृत् प्रत्ययका कर्ता ही अर्थ होगा अतः 'पाचको देवदत्तः' इत्यादि प्रयोगमें समानविभक्तित्व की सिद्धि हुई। यद्यपि 'कर्तरि कृत्' इसी सूत्रसे कर्तृपदका अपकर्ष 'लः कर्मणि' सूत्रमें होता है तथापि

शब्दाधिकर मानकर पूर्व सूत्रमें कर्तृत्व और उत्तरसूत्रमें कर्ता अर्थ करेंगे। अर्थाधिकारमें ही यह नियम है कि दोनों सूत्रोंमें अनुवृत्तिसूचकपदका समान अर्थ हो। अत एव 'अर्थवदधातु'—और 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इन दोनों सूत्रोंमें विभिन्न अर्थवत्त्वको वैयाकरण मानते हैं। अतः यह सिद्धान्त हुआ कि धातुका अर्थ फल मात्र है और आख्यातका अर्थ भावना ही है।

सेयं श्रुतिर्लिङ्गादिभ्यः प्रबला। लिङ्गादिषु न प्रत्यक्षो विनियोजकः शब्दोऽस्त किन्तु कल्प्यः। यावच्च तैर्विनियोजकशब्दः कल्प्यते तावत्प्रत्यक्षया श्रुत्या विनियोगस्य कृतत्वेन तेषां कल्पकत्वशक्तेर्व्याहतत्वात्। अत एवैन्द्र्या लिङ्गान्नेन्द्रोपस्थानार्थत्वम्। किन्तु 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठत' इत्यत्र गार्हपत्यमिति द्वितीयाश्रुत्या गार्हपत्योपस्थानार्थत्वम्।

यह श्रुति लिङ्गादिसे बलवती है क्योंकि लिङ्गादिमें (विनियोजक शब्द) अंगके साथ प्रधानका सम्बन्ध बोधकशब्द साक्षात् श्रुत नहीं रहता है किन्तु अर्थप्रकाशसामर्थ्यरूप लिंगसे कल्पित होता है। चूंकि लिंगादिसे विनियोजकशब्द की कल्पना की जाती है इसलिये प्रत्यक्ष श्रुतिसे विनियोग (अंगके साथ प्रधानका संबन्ध बोध) हो जायगा अतः लिंगादिकी कल्पकत्व शक्ति। (विनियोजकशब्द कल्पनाद्वारा विनियोगसामर्थ्य) का नाश हो जाता है। लिंगसे जब श्रुति प्रबल होगी तभी लिंगापेक्षया दुर्बल प्रकरणादिसे भी श्रुति प्रबल हो सकती है अतः लिंगसे श्रुतिप्राबल्य का उदाहरण देते हैं 'नेन्द्र सश्चसि' इस इन्द्र प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिंगसे ऐन्द्री ॠचा इन्द्रोपस्थानकी अंग नहीं होती है किन्तु 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस ऐन्द्री ॠचा से गार्हपत्यरूप अग्नि विशेष की उपस्थिति होने पर 'गार्हपत्यम्' इस द्वितीयाश्रुतिसे यह मन्त्र गार्हपत्योपस्थान (स्थिति) का अंग होता है। उसका यह अभिप्राय है कि 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' यह श्रुति है। वहां 'कदाच नस्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे' यह मन्त्र ऐन्द्र है क्योंकि इसमें इन्द्रका प्रकाशन है। इस मन्त्रका यह अर्थ है कि हे इन्द्र किसी समय में भी तू (न सश्चसि) नाश करने वाला नहीं होता है किन्तु (दाशुषे) याग करने वालोंके लिये (नस्तरीरसि) प्रसन्न रहता है। यहां पर इन्द्र प्रकाशन (बोधन) सामर्थ्यरूप लिंगसे यह मन्त्र इन्द्र विषयक क्रियाके अंगका बोधक होता है क्योंकि यदि इस मन्त्रसे इन्द्रका उपस्थान नहीं हो तो इस मन्त्रसे इन्द्र प्रकाशन व्यर्थ हो जायगा। इस लिये लिंग द्वारा विनियोगसे इस मन्त्रसे जो क्रिया होगी उसके

प्रति इन्द्र प्रधान है ऐसी बुद्धि होगी। इस मन्त्रसे कौन क्रिया होगी ऐसी आकांक्षा होनेपर 'ऐन्द्रयोपतिष्ठते' इस वाक्यसे उपस्थान क्रियाका बोध होगा। तब 'ऐन्द्र मन्त्रसे इन्द्रका उपस्थान हो' ऐसा अर्थ फलित होगा। एवं 'गार्हपत्यम्' इस द्वितीयाश्रुतिसे अप्रधानीभूत किञ्चित्करणक क्रियाके प्रति गार्हपत्यनामक अग्निविशेषका प्रधान रूपसे बोध होगा। बादमें 'ऐन्द्रयोपतिष्ठते' इन दोनों पदों में ऐन्द्रमन्त्र और उपस्थान क्रिया विशेषका बोध होगा तब 'ऐन्द्रमन्त्रसे गार्हपत्यका उपस्थान हो' ऐसा अर्थ होगा। लेकिन लिंगसे श्रुति प्रबल है अतः श्रुतिसे गार्हपत्यका ही उपस्थान होगा। यद्यपि जैसे 'व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्वा यजेत' इन दोनोंमें विरोध होनेसे विकल्प होता है इसी तरह श्रुति और लिंग दोनोंमें विकल्प होना चाहिए अथवा लिंगसे इन्द्रमें प्राधान्यका बोध होता है और श्रुतिसे गार्हपत्यमें प्राधान्यका बोध होता है। दोनोंके प्रति उपस्थान गुण है इसलिये 'प्रति प्रधानं गुणावृत्तिः' इस न्यायसे उपस्थानकी आवृत्तिसे श्रुति और लिंग दोनोंका समुच्चय होना चाहिए। अथवा वस्तुसामर्थ्यानुसारसे ही श्रुति विनियोग करती है जिसमें जो सामर्थ्य नहीं है उसका भी यदि विनियोग करे तो अग्निमें सेचन करणत्व और जलमें दहन करणत्व रूप सामर्थ्य न रहने पर भी 'अग्निना सिञ्चेत्, जलेन दहेत्' ऐसा भी विनियोग होगा। अतः वस्तुसामर्थ्यरूप लिंग श्रुतिका उपजीव्य (जिलानेवाला) है इसलिये श्रुतिसे लिंगको ही प्रबल होना चाहिए। तथापि मुख्य इन्द्रके समान गार्हपत्य अग्निमें भी याग साधनत्व है क्योंकि 'सिंहो माणवकः' इसके समान आरोपित इन्द्रत्व गार्हपत्यमें भी है अतः ऐन्द्र मन्त्रमें मुख्य इन्द्रके समान ही गार्हपत्यप्रकाशन सामर्थ्य है इसलिये सामर्थ्याभावरूप प्रतिबन्धक नहीं रहनेसे द्वितीया श्रुतिसे शीघ्र ही गार्हपत्यका विनियोग होगा अर्थात् ऐन्द्रमन्त्र गार्हपत्य अग्निके उपस्थानका ही अंग है इन्द्र प्रकाशन सामर्थ्यरूप लिंग तो चिरविलम्बसे विनियोग करेगा। क्योंकि सर्व प्रथम मन्त्रपदसे स्ववाच्यार्थका बोध होगा उसके बाद मन्त्रमें वस्तुप्रकाशन सामर्थ्यका निश्चय होगा उसके बाद वस्तु प्रकाशन सामर्थ्यसे साधनत्ववाची और प्रधानत्ववाची शब्दकी कल्पना होगी उसके बाद कल्पित शब्दसे 'ऐन्द्र मन्त्रसे इन्द्रका उपस्थान हो' ऐसा विनियोग होगा क्योंकि मन्त्रपदके अर्थप्रतिपादन और विनियोगके बीचमें सामर्थ्यनिश्चय और शब्द कल्पना रूप दो व्यापार व्यवधान हैं अतः विलम्बसे विनियोग होना स्वाभाविक है। श्रुति विनियोग पक्षमें तो मन्त्रपदों का अर्थ ज्ञान

होनेसे ही विनियोग होता है उसमें मध्यवर्ती व्यापार कल्पनाकी आवश्यकता नहीं है अतः लिंगसे श्रुति प्रबल है इसलिये श्रुतिसे ही लिंगका बाध होगा। श्रुतिके विनियोग समयमें लिंग प्राप्त नहीं है अतः बाध कैसे होगा ऐसा भ्रममें नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि यहांपर अप्राप्तिरूप ही बाध पदार्थ है।

लिङ्गनिर्वचनम्।

शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम्। यथाहुः—'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इति। सामर्थ्यं रूढिरेव। तेन समाख्यातोऽस्या भेदः। यौगिकशब्दसमाख्यातो रूढ्यात्मकलिङ्गशब्दस्य भिन्नत्वात्। तेन 'बर्हिर्देवसदनं दामी'ति मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्वं न तूलपादिलवनाङ्गत्वम्। तस्य बर्हिर्दामीति लिङ्गात्तल्लवनं प्रकाशयितुं समर्थत्वात्।

लिंगका लक्षण करते हैं—शब्द सामर्थ्यको ही लिंग कहते हैं। सामर्थ्यमात्र कहनेसे बीजमें जो अंकुरोत्पादन सामर्थ्य है उसमें अतिव्याप्ति होगी अतः शब्दपद कहा है इसलिये शब्दमें जो सामर्थ्य है उसीको लिंग कहेंगे। सामर्थ्यके दो भेद हैं शब्दवृत्ति और अर्थवृत्ति। प्रकृतमें शब्दवृत्ति सामर्थ्यरूप लिंगका लक्षण समझना चाहिये। अर्थवृत्ति सामर्थ्यका उदाहरण बतलाते हैं—जैसे 'स्रुवेणावद्यति' यहांपर पहले अवदान (ग्रहण करना) सामान्यके अंगत्वका बोध होता है पश्चात् स्रुववृत्तिसामर्थ्यरूप लिंगसे घृत प्रभृति द्रवद्रव्यावदानविशेषके अङ्गत्व का निश्चय होता है क्योंकि स्रुवसे कठिन मांसादि रूप द्रव्यका अवदान नहीं कर सकता है। शब्द वृत्ति सामर्थ्यरूप लिंगमें प्रमाण बतलाते हैं 'सब शब्दों का जो सामर्थ्य है उसीको लिंग कहते हैं।' सामर्थ्य शब्दका अर्थ रूढि है। इसलिये समाख्या (यौगिक शब्द) से रूढि स्वरूप लिंग भिन्न है। इसीलिये 'बर्हिर्देवसदनं दामि' यह मन्त्र कुशलवन (छेदन)-का अंग होता है समाख्याके बलसे कुश सदृश उलपादि तृण विशेषके छेदनका अंग नहीं होता है। क्योंकि बर्हिष् पदकी रूढि कुशमें ही है अतः 'बर्हिर्दामि' इस लिंगसे इस मन्त्रमें कुशलवन प्रकाशनसामर्थ्य ही है।

एवमन्यत्रापि लिङ्गाद्विनियोगो द्रष्टव्यः। तदिदं लिङ्गं वाक्यादिभ्यो बलवत्। अत एव 'स्योनं ते सदनं कृणोमी'ति मन्त्रस्य पुरोडाशसदनकरणाङ्गत्वं सदनं कृणोमीति लिङ्गात् न तु वाक्यात्।

इसी तरह दूसरे स्थलमें भी लिंगसे विनियोग जानना चाहिए। जैसे 'अग्नये

जुष्टं निर्वपामि' इसमन्त्रका निर्वाप (त्याग) प्रकाशन सामर्थ्यरूप लिंगसे निर्वापमें विनियोग होता है क्योंकि जिस मन्त्रमें जिस अर्थ का प्रकाशन सामर्थ्य है वह उसका अङ्ग होता है। यहां पर यह जानने योग्य बात है कि लिंग के दो भेद हैं—संबन्ध सामान्य बोधक प्रमाणान्तरनिरपेक्ष और सम्बन्धसामान्य बोधक-प्रमाणान्तरसापेक्ष। उनमें जिसके विना जो असम्भव हो वह सम्बन्ध सामान्य बोधक प्रमाणान्तरकी अपेक्षा रहित केवल लिंगसे उसका अंग होता है। जैसे अर्थ ज्ञानके विना कर्मानुष्ठान असम्भव है इसलिये अर्थज्ञान कर्मानुष्ठानका अंग केवल लिंगसे होता है। जिसके विना भी जो होसके वह सम्बन्ध सामान्य बोधक प्रमाणान्तरसापेक्ष लिंगसे उसका अंग होता है। जैसे 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' यह मन्त्र निर्वापका अङ्ग है क्योंकि इस मंत्रके विना भी उपायान्तरसे स्मरणकर निर्वाप हो सकता है। अतः यह मन्त्र निर्वापस्वरूप बोधक नहीं है अपितु अपूर्वके कारणीभूत निर्वाप प्रकाशनार्थ है किन्तु केवल सामर्थ्यरूप लिङ्गसे मन्त्र, अपूर्व कारणीभूत निर्वाप प्रकाशनार्थ नहीं हो सकता है क्योंकि इस मन्त्रमें केवल निर्वापप्रकाशन सामर्थ्य ही है इसलिये सम्बन्ध सामान्य बोधक प्रकरणादि प्रमाणान्तर को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा तब दर्शपूर्णमासके प्रकरणमें इस मन्त्रका पाठ है इसलिये दर्शपूर्णमासके अपूर्व सम्बन्धी कुछ प्रकाशित होता है यह कल्पना करेंगे। दर्शपूर्णमासका अपूर्वसम्बन्धी क्या प्रकाशित होता है ऐसी आकांक्षा होनेपर निर्वापप्रकाशन सामर्थ्यरूप लिंगसे पुरोडाश निर्वापका बोध होता है। अतः 'अग्नये जुष्टं' यह मन्त्र निर्वापका अंग है यह सिद्ध हुआ। यह लिंग वाक्यसे प्रबल है। अतएव (वाक्यसे लिंगको प्रबल होनेके कारण) 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' यह मन्त्र सदनकरण प्रकाशन सामर्थ्यरूप-'सदनं कृणोमि' इस लिंगसे पुरोडाश सदन करणके प्रति अंग होता है किन्तु 'सदनं कृणोमि' 'तस्मिन् सीद' इस तरह सहोच्चारणरूप वाक्यसे सम्पूर्ण मन्त्र पुरोडाश सदन करणके प्रति और पुरोडाश स्थापनाके प्रति अंग नहीं होता है। उसका यह अभिप्राय है कि 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' यहां पर "घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ, व्रीहीणां मेध, सुमनस्यमान" यह वाक्य शेष है। इसका अर्थ यह है कि हे पुरोडाश! तुम्हारा (स्योनं) समीचीन (सदनं) स्थान मैंने (कृणोमि) किया है उस स्थानको (घृतस्य धारया) घृतकी धारासे (सुशेवं) अच्छी तरह सेवनके योग्य करता हूँ। (व्रीहीणां मेध) हे धानोंके सारभूत

पुरोडाश। इस (अमृत) अच्छे स्थानमें तुम (सुमनस्यमानः) समाहित चित्तसे (सीद) बैठो और (प्रतितिष्ठ) स्थिर रहो। यहांपर यह सन्देह उपस्थित होता है कि इस समस्त मन्त्रमें स्थानकरणांगत्व और पुरोडाश स्थापनाङ्गत्व है अथवा "स्योनं ते सदनं कृणोमि" यह स्थानकरणका अंग है और 'घृतस्य धारया' इत्यादि मन्त्र पुरोडाश स्थापनका अंग है ऐसा संशय होनेपर पूर्वपक्ष होता है कि यह एक ही मन्त्र है इसलिये सम्पूर्ण मन्त्र ही स्थानकरणका और पुरोडाश स्थापनका अंग है। अर्थात् (सर्वेणानेन मन्त्रेण स्थानं कर्तव्यम्) इस समस्त मन्त्रसे स्थान करना चाहिए एवं (सर्वेण मन्त्रेण पुरोडाशः स्थापनीयः) समस्त मन्त्रसे पुरोडाश स्थापन करना चाहिये इस तरहसे विनियोजकश्रुति की कल्पना करनी चाहिये क्योंकि इस मन्त्रमें स्थान करण प्रकाशन सामर्थ्यके समान पुरोडाश स्थापन प्रकाशन सामर्थ्य भी है। अब यहांपर यह सिद्धान्त है कि प्रत्यक्ष लिंगसे पूर्वार्द्ध सदन करणका अंग है और उत्तरार्द्ध पुरोडाश स्थापनका अंग है। क्योंकि पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमें परस्पर अन्वयसे जो एकवाक्यता होती है उसीसे समस्त मंत्रमें स्थान करणांगत्व और पुरोडाश स्थापनांगत्व ये दोनों हो सकते हैं। और ये भी दोनों पुरोडाश स्थापनमें पूर्वार्द्ध की शक्ति कल्पनाके विना और सदन करणमें उत्तरार्द्ध की शक्ति कल्पनाके विना नहीं हो सकते, अतः लिंग की कल्पना करनी होगी। इसलिये श्रुतिके प्रति लिंग कल्पनासे वाक्य व्यवहित हो जाता है और पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धमें जो दोनों प्रत्यक्ष लिंग हैं वे श्रुतिके प्रति व्यवहित नहीं हैं। अतः वाक्यसे लिंग प्रवल हुआ इसलिये लिंग द्वारा पूर्वार्द्धसे सदन करणका और उत्तरार्द्धसे पुरोडाश स्थापनका विनियोगमें कोई प्रतिवन्धक नहीं है।

वाक्यनिर्वचनम्।

समभिव्याहारो वाक्यम्। समभिव्याहारश्च साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावेऽपि। वस्तुतः शेषशेषिवाचकपदयोः सहोच्चारणम्। यथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापꣳ श्लोकं शृणोति'। अत्र पर्णताजुह्वोः समभिव्याहारादेव पर्णताया जुह्वङ्गत्वम्। न चानर्थक्यम्, अन्यथापि जुह्वाः सिद्धत्वादिति वाच्यम्। जुहूशब्देन तत्साध्यापूर्वलक्षणात्।

समभिव्याहार को वाक्य कहते हैं। साध्यत्वादिवाचक द्वितीयादि नहीं रहने पर भी समभिव्याहार रहता है। वस्तुतः शेष (अंग) और शेषि (प्रधान) अङ्गी वाचक-

पदोंका एक साथ उच्चारण को समभिव्याहार (वाक्य) कहते हैं। उदाहरण बतलाते हैं जैसे 'पर्णमयी जुहूः' इत्यादि। यहांपर पर्णता (पलाश) और जुहूका एक साथ उच्चारण है इसलिये पर्णता जुहूकी अंग होती है। यहां यह शंका उठती है कि दूसरे काष्ठसे भी जुहू (अर्धचन्द्राकृति यज्ञ पात्र विशेष) हो सकती है अतः पर्णताका उपादान व्यर्थ है इसका उत्तर देते हैं कि जुहू शब्दको जुहू साध्य अपूर्व में लक्षणा करते हैं। अर्थात् पर्णतासे बनाई गई जुहूसे ही अपूर्वकी उत्पत्ति होती है काष्ठान्तर निर्मित जुहूसे अपूर्वकी उत्पत्ति नहीं होती है।

तथा च वाक्यार्थः पर्णतयावत्तहविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्व भावयेदिति। एवं च पर्णतया यदि जुहूः क्रियते तदैव तत्साध्यमपूर्वं भवति नान्यथेति गम्यत इति न पर्णताया वैयर्थ्यम्। अवत्तहविर्धारणद्वारेति चावश्यं वक्तव्यम्। अन्यथा स्रुवादिष्वपि पर्णतापत्तेः, सेयं पर्णता अनारभ्याधीतापि सर्वप्रकृतिष्वेवान्वेति न विकृतिषु। तत्र चोदकेनापि तत्प्राप्तिसंभवात्पौनरुक्त्यापत्तेः।

जुहूकी जुहू साध्य अपूर्वमें लक्षणा करने पर जो वाक्यार्थ होता है उसको बतलाते हैं "अवत्त (खण्डशः कृत्वा गृहीत) हविर्धारणद्वारा पर्णता (पलाश) निर्मित पात्र विशेषसे जुहूसाध्य अपूर्वकी भावना करे" यह वाक्यका अर्थ होगा। अर्थात् पर्णतानिर्मित जुहूमें खण्डशः कृत चरु आदि हविष लेकर यज्ञ करे। इसलिये जब पर्णतासे जुहू की जायगी तभी जुहू साध्य अपूर्व होगा अन्यथा नहीं यह सिद्ध हुआ अतः पर्णताका वैयर्थ्य नहीं हुआ। अवत्त हविर्धारण द्वारा यह अर्थ करना ही पड़ेगा। अन्यथा स्रुवादि भी आज्य हविर्धारण द्वारा जुहू साध्य अपूर्वका उपकारक होता है अतः उसमें भी पर्णताकी आपत्ति होगी। अर्थात् स्रुवादि भी पलाशका ही बनाना पड़ेगा। इस पर्णताका (अनारभ्याधीता) सामान्य विधान होनेपर भी सब प्रकृति यज्ञमें ही अन्वय होगा किन्तु विकृति यज्ञमें अन्वय नहीं होगा। क्योंकि विकृति यज्ञमें 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या' ("प्रकृतिके समान विकृति करनी चाहिये) इस चोदक वाक्यसे ही पर्णताकी प्राप्ति है अतः विकृति यागमें पर्णताका अन्वय करेंगे तो पुनरुक्ति दोष होने लगेगा अतः विकृति यागमें पर्णताका अन्वय नहीं करना चाहिये।

प्रकृतिविकृतिलक्षणम्।

यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः, यथा दर्शपूर्णमासादिः। तत्प्रकरणे

सर्वाङ्गपाठात्। यत्र न सर्वाङ्गोपदेशः सा विकृतिः। यथा सौर्यादिः। तत्र कतिपयाङ्गानामतिदेशेन प्राप्तत्वात्। अनारभ्यविधिः सामान्यविधिः। तदिदं वाक्यं प्रकरणादिभ्यो बलवत्। अत एव 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादेरेकवाक्यत्वाद्दर्शाङ्गत्वं न तु प्रकरणाद्दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्।

जहांपर सब अंगोंका उपदेश हो उसे प्रकृति याग कहते हैं। जैसे 'दर्शपौर्णमास' प्रभृति। क्योंकि दर्शपौर्णमास प्रकरणमें सभी अंगोंका पाठ है। और जिसमें सब अङ्गोंका उपदेश नहीं हो उसे विकृति याग कहते हैं। जैसे 'सौर्यादि'। सौर्ययागमें कितने अंगोंका 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस अतिदेशसे ही लाभ होता है जैसे ल के स्थानमें तिप्का लाभ होता है। अनारभ्य विधिको सामान्य विधि कहते हैं। यह वाक्य प्रकरणादिसे बलवान् है। (अतएव) प्रकरणादिसे वाक्यको बलवान् होने के कारण ही 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादि मंत्र एकवाक्यतासे दर्शका ही अङ्ग होता है किन्तु प्रकरणसे दर्शपूर्णमासका अंग नहीं होता। उसका यह अभिप्राय है कि सूक्त वाक्यके मन्त्र हैं—"अग्नीषोमाविदं हविरजुषेतामवीवृधेताम् महोज्यायोऽक्राताम्, इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महोज्यायोऽक्राताम्" इति। इन मन्त्रोंमें अग्नीषोमादि रूप देवता वाचक पदका पौर्णमास्यादि कालमें देवताके अनुसार जिस समय में जो देवता हो उसका विभागकर प्रयोग करना चाहिये इस तरह तृतीयाध्यायमें वर्णित है। यहांपर यह संशय होता है कि दर्श और पूर्णमास इन दोनों प्रकरणोंमें यह मन्त्र है अतः देवतावाचक अग्नीषोमादि पदको हटाकर दोनों यागोंमें दोनों मन्त्रोंको पढ़ना चाहिये अथवा तत्तद्देवता वाचक पदोंके साथ एक वाक्यता से "अग्नीषोमौ इदंहविः" इत्यादि मन्त्रको पूर्णमासमें और "इन्द्राग्नी इदं हविः" इत्यादि मन्त्रको दर्शमें पढ़ना चाहिए? इसपर पूर्वपक्ष होता है कि पूर्णमासमें इन्द्राग्नी पद हटाकर अवशिष्ट दोनों मन्त्रोंको और दर्शमें अग्नीषोमपद हटाकर अवशिष्ट दोनों मन्त्रोंको पढ़ना चाहिये। अतएव समस्त मन्त्र भागका दर्श और पूर्णमास प्रकरणमें पढ़ना चरितार्थ होता है। बादमें सिद्धान्त किया है कि "अग्नीषोमौ इदं हविः" इत्यादि मन्त्रमें अग्नीषोमपद रहित (इदं हविः) इत्यादि पदोंका इन्द्राग्नीपदोंके साथ अन्वयका श्रवण नहीं है इसलिये प्रकरणसे प्रथम दोनोंके अन्वय रूप वाक्यकी कल्पना करनी होगी उस वाक्यसे 'इन्द्राग्नी' प्रकाशन रूप सामर्थ्यकी कल्पना करनी होगी। बादमें उस लिंगसे 'इन्द्राग्नी' विषयक कोई क्रिया करनी चाहिए ऐसी विनियोग भावक श्रुतिकी कल्पना होगी। इस

तरह प्रकरण और श्रुतिके मध्यमें तीनका व्यवधान मानना होगा। जब तद्देवता वाचकपदोंकी एकवाक्यता मानते हैं तब वाक्य तो श्रूयमाण ही है केवल लिंग और श्रुतिकी ही कल्पना करनी पड़ती है अतः प्रकरणसे वाक्य बलवान है इसलिये 'अग्नीषोमाविदं हविः' यह मन्त्र पूर्णमासका अंग होता है और 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादि मन्त्र दर्शका अंग होता है।

प्रकरणनिरूपणम्।

उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्। यथा प्रयाजादिषु 'समिधो यजती'त्यादिवाक्ये फलविशेषस्यानिर्देशात्समिद्यागेन भावयेदिति बोधानन्तरं किमित्युपकार्याकाङ्क्षा। दर्शपूर्णमासवाक्येऽपि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावये'दिति बोधानन्तरं कथमित्युपकारकाकाङ्क्षा। इत्थं चोभयाकङ्क्षया प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्।

प्रकरणद्वैविध्यम्।

तच्च प्रकरणं द्विविधम्। महाप्रकरणमवान्तरप्रकरणं चेति।

जहां उभय की आकांक्षा हो उसे प्रकरण कहते हैं। जैसे प्रयाजादि यागमें (समिधो यजति) इस वाक्यमें फल विशेष (स्वर्गादि) का निर्देश नहीं है इसलिये 'समित् यागसे भावना करे' इस तरह बोधके बाद किसकी भावना करे इस तरहसे (उपकार्य) फल की आकांक्षा होती है। एवं दर्शपूर्णमास वाक्यमें भी 'दर्श और पूर्णमाससे स्वर्ग की भावना करे' इस तरहसे बोधके बाद किस प्रकार स्वर्ग की भावना करे इस तरहसे (उपकार) अंग की आकांक्षा होती है। अतः उभय की आकांक्षासे प्रयाजादि याग, दर्श और पूर्णमासका अंग होता है।

प्रकरण के दो भेद होते हैं। महाप्रकरण और अवान्तर प्रकरण।

महाप्रकरणम्।

तत्र मुख्यभावनासंबन्धिप्रकरणं महाप्रकरणम्। तेन च प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्। एतच्च प्रकृतावेव उभयाकाङ्क्षायाः संभवान्न तु विकृतौ। तत्र 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्ये'त्यतिदेशेन कथंभावाकाङ्क्षाया उपशमेनापूर्वाङ्गानामप्युभयाकाङ्क्षया विनियोगासंभवात्। तस्मादपूर्वाङ्गानां स्थानादेव विकृत्यर्थत्वमिति।

उनमें मुख्य (स्वर्गादि फल) भावना सम्बन्धी प्रकरणको ही महाप्रकरण कहते हैं। इस महाप्रकरणसे प्रयाजादि में दर्श और पूर्णमासके प्रति अंगत्वका ज्ञान

होता है। महाप्रकरण प्रकृति यागमें ही रहता है क्योंकि प्रकृति यागमें ही उभयाकांक्षा होती है। विकृति यागमें उभयाकांक्षा नहीं होती। क्योंकि विकृति यागमें 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या' इस अतिदेशसे ही (कथंभाव) इतिकर्तव्यताकांक्षा शान्त हो जाती है अतः सौर्य्यादि विकृति यागमें अपूर्व (जो प्रकृति यागमें विहित नहीं है ऐसे) उपहोमका विनियोग उभयाकांक्षासे नहीं हो सकता है। इसलिये विकृति सौर्य्यादि यागमें अपूर्वहोमादि प्रकरणसे अंग नहीं होता है किन्तु स्थानाख्य प्रमाणसे ही वह विकृति सौर्य्यादिका अंग होता है।

अवान्तरप्रकरणम्।

अङ्गभावनासंबन्धिप्रकरणमवान्तरप्रकरणम्। तेन चाभिक्रमणादीनां प्रयाजाद्यङ्गत्वम्। तच्च संदंशेनैव ज्ञायते। तदभावे चाविशेषात्सर्वेषां फलभावनाकथंभावेन ग्रहणप्रसङ्गेन प्रधानाङ्गत्वापत्तेः।

अंगभावना सम्बन्धी प्रकरण को ही अवान्तर प्रकरण कहते हैं। अवान्तर प्रकरणसे प्रयाजादिके प्रति अभिक्रमणादि (भ्रमण करना) अंग होता है। अभिक्रमणादिमें प्रयाजाद्यंगत्व का ज्ञान संदंश (दोके मध्यमें पाठ) से ही होता है। यदि संदंशके बिना भी ज्ञान हो तो जैसे दर्शादि प्रधान यागके प्रकरणमें पठित प्रयाजको प्रधानका अंगत्व होता है इसी तरह दर्शादि प्रकरणमें पठित अभिक्रमणको भी स्वर्गादि फल भावनामें कथंभावसे गृहीत होनेके कारण प्रधान (दर्श) का ही अंगत्व होगा।

संदंशलक्षणम्।

एकाङ्गानुवादेन विधीयमानयोरङ्गयोरन्तराले विहितत्वं संदंशः। यथाभिक्रमणे। तद् हि 'समानयते जुह्वाम् उपभृतस्तेजो वा' इत्यादिना प्रयाजानुवादेन किंचिदङ्गं विधाय विधीयते—'यस्यैवंविदुषः प्रयाजा इज्यन्ते प्रैभ्यो लोकेभ्यो भ्रातृव्यान्नुदतेऽभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै' इति, तदनन्तरं 'यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेदे' त्यादिना किंचिदङ्गं विधीयते। अतः प्रयाजाङ्गमध्ये विहितमभिक्रमणं तदङ्गम्। प्रयाजैरपूर्वं कृत्वा यागोपकारं भावयेदिति ज्ञाते- कथमेभिरपूर्वं कर्तव्यमिति कथंभावाकाङ्क्षायाः सत्त्वात्। सा च संदंशपठितैरभिक्रमणादिभिः शाम्यति।

एक अंगका अनुवाद कर विधीयमान दो अंगोंके मध्यमें किया जानेवाला विधानको ही संदंश (सँडसीके सदृश) कहते हैं। जैसे अभिक्रमणमें प्रयाजरूप अंगका अनुवादकर

'समानयते जुह्वां' (उपभृत्‌नामके पात्र विशेषसे जुहूमें घृत लाता है) इत्यादिसे घृतानयन रूप अंगका विधानकर 'यस्यैवं विदुषः' इस तरहसे प्रयाज याग करे तो शत्रुको जीतता है अतः—जयके लिये आहवनीय स्थलमें परितः भ्रमणकर याग करे इत्यादि अभिक्रमणरूप अंगका विधान है। उसके बाद 'यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेद' (जो इन दोनों प्रयाजों को जानता है) इत्यादिसे प्रयाज द्वयके ज्ञान रूप अंगका विधान होता है। अतः प्रयाजके अनुवादसे घृतानयन और प्रयाजद्वय ज्ञानके मध्यमें विहित अभिक्रमण, संदंशसे प्रयाजका अंग होता है क्योंकि 'प्रयाजसे अपूर्व-सम्पादनकर यागोपकारकी भावना करे' ऐसा ज्ञान होनेपर कथंभाव (कैसे किया जाय) की आकांक्षा होती है। कथंभाव आकांक्षाकी शान्ति संदंश पठित अभिक्रमणादिसे ही होती है।

न चाङ्गभावनायाः कथंभावाकाङ्क्षाऽभावः, भावनासामान्येन तत्रापि तत्संभवात्।

यहाँपर यह शंका उठती है कि प्रयाजभावना अंगभावना है और अंगभावनामें कथंभावकी आकांक्षा नहीं होती है। अतः "अंगभावना कथंभावाकांक्षाशून्या, अंगभावनात्वात्" इत्याकारक अनुमानसे अभिक्रमण प्रयाजका अंग कैसे होगा? इसका उत्तर करते हैं कि भावनासामान्यसे अंगभावनामें भी साकांक्षत्वकी सिद्धि करेंगे। अर्थात् पूर्वपक्षीके अनुमानमें अंगभावनात्वरूप हेतु पक्षमात्रमें वृत्ति है अतः असाधारण नामक व्यभिचार दोष लगता है। इसलिये "प्रयाजाद्यंगभावना कथंभावसाकांक्षा भावनात्वात् दर्शादिभावनावत्" ऐसे अनुमानसे कथंभाव—आकांक्षा की सिद्धि होगी।

तदिदं प्रकरणं क्रियाया एव साक्षाद्विनियोजकं द्रव्यगुणयोस्तु तद्द्वारा। तथा हि—'यजेत स्वर्गकाम' इत्यत्र फलभावनायां कथंभावाकाङ्क्षायां संनिधिपठिताऽश्रूयमाणफलकं क्रियाजातमुपकार्याकाङ्क्षयेतिकर्तव्यतात्वेनान्वेति। क्रियाया एव लोके कथंभावाकाङ्क्षायामन्वयदर्शनात्। न हि कुठारेण छिन्द्यादित्यत्र कथंभावाकाङ्क्षोत्थाप्यमानोऽपि हस्तोऽन्वेति किंतु हस्तेनोद्यम्य निपात्येति उद्यमननिपातने एव, हस्तश्च तद्द्वारैवान्वेतीति सार्वजनीनमेतत्।

इस प्रकरणसे साक्षात् क्रियाका ही विनियोग होता है। द्रव्य और गुणका

विनियोग तो क्रियाके द्वारा ही होता है। जैसे 'यजेत स्वर्गकामः' यहाँपर फल (स्वर्ग) भावनामें कथंभावकी आकांक्षा होने पर समीप पठित अश्रूयमाण फल वाला क्रिया (जात) समूहका ही, उपकार्य (इसका प्रधान कौन है?) की आकांक्षासे अन्वय होता है। लोकमें भी कथंभाव (इतिकर्तव्यता) की आकांक्षा होनेपर क्रियाका ही अन्वय होता है जैसे 'हस्तेन कुठारेण छिन्द्यात्' यहांपर कुल्हारीसे छेदनकी भावना करे इस वाक्यार्थमें कथंभावकी आकांक्षा होनेपर यद्यपि हस्तका उच्चारण है तथापि उसका उस रूपसे अन्वय नहीं होता है किन्तु हाथसे उठाकर और गिराकर इस तरहसे उद्यमन और निपातन क्रियाका ही अन्वय होता है और हस्तका उद्यमनादि रूप क्रियाके द्वारा ही अन्वय होता है यही प्रतीति सर्वजन प्रसिद्ध है।

इदं च स्थानादिभ्यो बलवत्। अत एवाक्षैर्दीव्यति राजन्यं जिनातीति देवनादयो धर्मा अभिषेचनीयसंनिधौ पठिता अपि स्थानान्न तदङ्गं, किंतु प्रकरणाद्राजसूयाङ्गमिति।

स्थानादिसे प्रकरण बलवान् है। इसलिए अभिषेचनीयके समीपमें पाठ होनेपर भी स्थानाख्य प्रमाणसे 'अक्षैर्दीव्यति' प्रभृति देवनादि (पाशा खेलना) धर्म अभिषेचनीयका अंग नहीं होता है किन्तु प्रकरणसे राजसूयका ही अंग होता है। उसका यह अभिप्राय है कि राजसूयके प्रकरणमें बहुतसे यागोंका पाठ है। जिनमें अभिषेचनीय (सोमयाग) नामका याग भी पठित है इसीके समीपमें 'अक्षैर्दीव्यति' 'राजन्यो जिनाति' (जीतता है) इत्यादि मंत्रोंसे देवनादि धर्मका श्रवण है वहांपर यह संदेह होता है कि यह देवनादि राजसूयका अंग है, अथवा अभिषेचनीय (सोमयाग)-का अंग है? उसपर पूर्वपक्ष होता है कि समान देशमें पाठ होनेसे स्थानाख्य प्रमाणके बलसे अभिषेचनीयका ही अंग होना चाहिये। तब सिद्धान्त करते हैं कि राजसूयमें कथंभावकी आकांक्षा होनेपर देवनादिका विधान है अतः देवनादि प्रकरणसे राजसूयका ही अंग होता है। और राजसूय बहुयागात्मक है अतः देवनादि वहांके सभी यागोंका अंग होगा। और देवनादिमें अभिषेचनीय की कोई आकांक्षा भी नहीं है क्योंकि अभिषेचनीय ज्योतिष्टोमका विकृति याग है अतः 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस अतिदेशसे ही अभिषेचनीयकी आकांक्षा दूर हो जायगी।

स्थाननिरूपणम् ।

देशसामान्यं स्थानम् । तद्द्विविधम्-पाठसादेश्यमनुष्ठानसादेश्यं चेति । स्थानं क्रमश्चेत्यनर्थान्तरम् । पाठसादेश्यमपि द्विविधम्—यथासङ्ख्यपाठः संनिधिपाठश्चेति ।

समान देश (एक देश) को ही स्थान कहते हैं । स्थानके दो भेद हैं । पाठ सादेश्य (पाठ समान देशत्व) और अनुष्ठान सादेश्य (अनुष्ठान समान देशत्व) । स्थान और क्रम दोनोंका एक ही अर्थ है । पाठ समान देशत्वके भी दो भेद हैं । यथासंख्य पाठ और सन्निधि पाठ ।

पाठसादेश्येन विनियोगः ।

तत्र 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्' । 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेदि'त्येवं क्रमविहितेषु 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' इत्यादीनां याज्यानुवाक्यामन्त्राणां यथासंख्यं प्रथमस्य प्रथमं द्वितीयस्य द्वितीयमित्येवंरूपो विनियोगो यथासंख्यपाठात् । प्रथमपठितमन्त्रस्य हि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां प्रथमतो विहितं कर्मैव प्रथममुपतिष्ठते समानदेशत्वात् । एवं द्वितीयमन्त्रस्यापि । वैकृताङ्गानां प्राकृताङ्गानुवादेन विहितानां संदंशपतितानां विकृत्यर्थत्वं संनिधिपाठात् यथा आमनहोमानाम् । तेषां हि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां फलं विकृत्यपूर्वमेव भाव्यत्वेन संबध्यते, उपस्थितत्वात्, स्वतन्त्रफलकत्वे विकृतिसंनिधिपाठानर्थक्यापत्तेः ।

यथासंख्यपाठसे समान देशत्वका उदाहरण बतलाते हैं—क्रमसे 'ऐन्द्राग्नमि'त्यादिसे ऐन्द्राग्नेष्टि याग और 'वैश्वानरमि'त्यादिसे वैश्वानरेष्टि यागका विधान है । एवं क्रमसे 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' और 'वैश्वानरोऽजीजनत्' यह याज्यानुवाक्यामन्त्र ('यज' ऐसी विधिके बाद ब्रह्मा जिस मन्त्रका उच्चारण करें उसे अनुवाकका मन्त्र कहते हैं) का पाठ है । यहांपर यथासंख्य पाठसे प्रथम याग (ऐन्द्राग्नेष्टि याग) का प्रथम (इन्द्राग्नी रोचना दिवः) मंत्र अंग है और द्वितीय (वैश्वानरेष्टि) यागका द्वितीय (वैश्वानरोऽजीजनत्) मन्त्र अंग है । क्योंकि प्रथम पठित मन्त्रमें कैमर्थ्याकांक्षा (यह मन्त्र क्यों है इस तरहसे आकांक्षा) होने पर सामान्य देशत्वसे प्रथम विहित कर्म (याग) की ही उपस्थिति होती है । इसी तरहसे द्वितीय मन्त्रमें कैमर्थ्याकांक्षा होनेपर द्वितीय विहितकर्मकी उपस्थिति होती है । प्राकृतांग (प्रकृति यागका अंग) के अनुवादसे संदंशमें पठित जो वैकृतांग

हैं वे सन्निधि पाठसे विकृतियागके अंग होते हैं। जैसे 'आमनसे स्वाहा' 'रेतस्विने स्वाहा' इत्यादि आमन होम हैं। आमन होममें कैमर्थ्याकांक्षा होने पर विकृति यागके अपूर्वफलका ही साध्यरूपसे उपस्थित होनेके कारण अन्वय होता है अर्थात् विकृति यागका फल ही आमनयागका फल है। क्योंकि आमन होमका अलग कोई फल हो तो विकृति सन्निधिमें उसका पाठ व्यर्थ हो जायगा।

अनुष्ठानसादेश्येन विनियोगः।

पशुधर्माणामग्नीषोमीयार्थत्वमनुष्ठानसादेश्यात् । औपवसथ्येऽह्नि अग्नीषोमीयः पशुरनुष्ठीयते तस्मिन्नेव दिने ते धर्माः पठ्यन्ते। अतस्तेषां कैमर्थ्याकाङ्क्षायामनुष्ठेयत्वेनोपस्थितं पशवपूर्वमेव भाव्यत्वेन संबध्यते।

पशुओंके जो उपाकरण ('प्रजापतेर्यजमानाः, इदं पशुमि'त्यादि दो मन्त्रोंसे स्पर्श करना) पर्य्यग्निकरण (कुशमें आग लगाकर उससे तीन वार पशुका प्रदक्षिण करना) और यूपनियोजन (यूपमें रज्जुसे बन्धन) धर्म हैं। सब अनुष्ठान समानदेशत्वसे अग्निष्टोमीय पशुके अंग हैं। क्योंकि ज्योतिष्टोम प्रकरणमें तीन पशु कहे गये हैं—अग्निष्टोमीय, सवनीय और आनुबन्ध्य। उनमें अग्निष्टोमीय पशुका अनुष्ठान औपवसथ्य (सौत्यनामक दिनसे पूर्व दिन) में किया जाता है उसी दिनमें उपाकरणादि धर्मोंका कथन है। अतः उन धर्मोंमें कैमर्थ्याकांक्षा होनेपर अनुष्ठेयत्वेन उपस्थित अग्नीषोमीय पशुके अपूर्वका ही साध्यत्वेन अन्वय होगा, सवनीय और आनुबन्ध्यके अपूर्वका अन्वय नहीं होगा क्योंकि सवनीय पशुका पाठ सौत्य नामक दिनमें है और अवभृथ (यज्ञान्त) में आनुबन्ध्यके स्थानका श्रवण है। अतः एकदेशमें दोनोंके पाठ होनेके कारण उपाकरणादि अग्नीषोमीयार्थ ही है॥

तच्च स्थानं समाख्यातः प्रबलम्। अत एव शुन्धनमन्त्रः सांनाय्यपात्राङ्गं पाठसादेश्यात्, न तु पौरोडाशिकमिति समाख्यया पुरोडाशपात्राङ्गम्।

यह स्थान समाख्यासे प्रबल है। इसलिये शुन्धन मंत्र, पाठ समानदेशत्वसे सान्नाय्य (हविष) पात्रका अंग होता है किन्तु पौरोडाशिक, इस समाख्या (यौगिक (शब्द) से पुरोडाश पात्रका अंग नहीं होता है। यहां पर यह विशद विचार है कि पौरोडाशिक, इस समाख्यात (यौगिक) काण्डमें सान्नाय्य पात्रका—"शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै" यह शुन्धन मंत्र है। इसमें यह संशय होता है कि

यह मंत्र सान्नाय्य पात्रका अङ्ग है अथवा पुरोडाश पात्रका? इस पर पूर्वपक्ष होता है कि इस मंत्रका पौरोडाशिक–समाख्या काण्डमें पाठ है अतः पुरोडाश पात्रका अंग होना चाहिये बादमें यह सिद्धान्त होता है कि 'पौरोडाशिक' पदमें पुरोडाशस्येदं, इस विग्रहसे प्रकृतिका पुरोडाश और ठक् प्रत्ययका काण्ड अर्थ होता है। किन्तु इस योगार्थसे समस्त पुरोडाश पात्रकी सन्निधि (क्रम) प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु अर्थापत्तिसे उसकी कल्पना करेंगे। लेकिन यदि पुरोडाश पात्रकी सन्निधि प्रत्यक्ष नहीं हो तो शुन्धन प्रतिपादक मंत्रकी पौरोडाशिक समाख्या नहीं हो सकती है। अतः काण्ड समाख्यासे सन्निधिकी कल्पना करेंगे किन्तु विना प्रकरणके परिकल्पित काण्ड सन्निधि अनुपपन्न है अतः परस्पर आकांक्षारूप समस्त पुरोडाश पात्र प्रकरणकी कल्पना करेंगे। उसके बाद वाक्य लिंग और श्रुतिकी कल्पना कर श्रुतिसे विनियोग करें तो समाख्यासे विनियोग बहुत व्यवहित हो जाता है। और सान्नाय्य पात्रोंकी शुन्धन–मंत्रसन्निधि प्रत्यक्ष सिद्ध है क्योंकि इध्माबर्हिष् सम्पादन और मुष्टि निर्वाप (त्याग) के मध्यमें सान्नाय्य पात्रोंका देश कहा है और इध्माबर्हिष् एवं निर्वाप विषयक जो मन्त्र और अनुवादक हैं उनके मध्यम अनुवाक्यमें मंत्रका पाठ है अतः मंत्र–सन्निधि प्रत्यक्ष सिद्ध है केवल प्रकरण वाक्य, लिंग और श्रुतिकी ही कल्पना करनी पड़ती है अतः सन्निधि (स्थान) के पास विनियोग है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि समाख्यासे स्थान प्रबल है॥

समाख्यानिरूपणम्।

समाख्या यौगिकः शब्दः। सा च द्विविधा—वैदिकी लौकिकी च। तत्र होतुश्चमसभक्षणाङ्गत्वम्, होतृचमस इति वैदिक्या समाख्यया। अध्वर्योस्तत्तत्पदार्थाङ्गत्वम्, लौकिक्या आध्वर्यवमिति समाख्ययेति संक्षेपः। तदेवं निरूपितानि संक्षेपतः श्रुत्यादीनि षट् प्रमाणानि।

यौगिक शब्दोंको समाख्या कहते हैं। समाख्याके दो भेद हैं। वैदिकी और लौकिकी। उनमें 'होतृचमसः' इस वैदिकी समाख्यासे होता (ऋचाको जानने वालेको होता कहते हैं) चमस (सोमरस) भक्षणका अंग होता है। 'आध्वर्यवम्' इस लौकिकी समाख्यासे अध्वर्यु 'पुरोऽध्वर्युर्विभजति' इत्यादि यजुर्वेदसे विहित पदार्थोंका अंग होता है। इस तरह श्रुत्यादि छे प्रमाणोंका संक्षेपसे निरूपण हुआ।

विनियोगविधिबोधिताङ्गानि ।

एतत्सहकृतेन विनियोगविधिना समिदादिभिरुपकृत्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेते'त्येवंरूपेण यानि विनियोज्यन्ते तान्यङ्गानि द्विविधानि—सिद्धरूपाणि क्रियारूपाणि चेति। तत्र सिद्धानि जातिद्रव्यसंख्यादीनि। तानि च दृष्टार्थान्येव। क्रियारूपाणि च द्विविधानि—गुणकर्माणि प्रधानकर्माणि च। एतान्येव संनिपत्योपकारकाणि आरादुपकारकाणीति चोच्यन्ते।

इन श्रुत्यादियोंके सहारे विनियोग विधि द्वारा समिदादिसे उपकृत होकर 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इस तरह जिन अंगोंका विनियोग होता है वे अंग दो तरहके हैं सिद्धरूप और क्रियारूप। उनमें पशुत्वादिजाति व्रीह्यादिद्रव्य और एकत्वादि संख्या सिद्धरूप हैं। इनका दृष्ट (दिखाई देने वाला) ही प्रयोजन है। क्रियारूप अंगोंके दो भेद हैं गुणकर्म और प्रधानकर्म उनमें गुणकर्म अवघातादि (कूटना) और प्रधानकर्म प्रयाजादि हैं ये ही सन्निपत्योपकारक और आरादुपकारक भी क्रमशः कहे जाते हैं॥

संनिपत्योपकारकाणि।

कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन विधीयमानं कर्म संनिपत्योपकारकम्। यथाऽवघातप्रोक्षणादि। तच्च दृष्टार्थम् अदृष्टार्थम दृष्टादृष्टार्थं चेति। तत्र दृष्टार्थमवघातादि, अदृष्टार्थं प्रोक्षणादि, दृष्टादृष्टार्थं पशुपुरोडाशादि। तद्धि द्रव्यत्यागांशेनैव अदृष्टं देवतोद्देशेन च देवतास्मरणं दृष्टं करोति।

होमकर्मांगद्रव्यादिको उद्देश्य करके विधीयमान जो कर्म उसे सन्निपत्योपकारक कहते हैं। अर्थात् जो अंग साक्षात् अथवा परम्परया स्वर्गादिफल साधक याग शरीर का निष्पादन करके याग द्वारा (यागसे जायमान) अपूर्वमें कारण हो उसे सन्निपत्योपकारक कहते हैं। मूलोक्त द्रव्यादि पदमें आदि पदसे देवतादिका ग्रहण होता है। उदाहरण कहते हैं जैसे—अवघात और प्रोक्षणादि (सेचन)। उस सन्निपत्योपकारकके तीन भेद हैं दृष्ट प्रयोजन, अदृष्ट प्रयोजन और दृष्टादृष्ट प्रयोजन। उनमें अवघातादिका तुषविमोकादि (भूसा अलग करना) दृष्ट प्रयोजन है क्योंकि उससे तण्डुलादि साफ हो जाता है। प्रोक्षणादिसे व्रीह्यादिमें अतिशय नामक संस्कार विशेषकी उत्पत्ति होती है अतः प्रोक्षणादिका यह अदृष्ट प्रयोजन है। पशु और पुरोडाशादिका दृष्टादृष्ट ये दोनों प्रयोजन हैं। क्योंकि पशुपुरोडा-

शादि द्रव्य त्यागसे यागजन्य उत्पत्त्यपूर्व द्वारा फलापूर्वरूप अदृष्ट प्रयोजनको और देवताके उद्देश्य होनेसे देवता स्मरण रूप इष्ट प्रयोजनको करता है।

आरादुपकारकाणि।

द्रव्याद्यनुद्दिश्य केवलं विधीयमानं कर्म आरादुपकारकम्। यथा प्रयाजादि। आरादुपकारकं च परमापूर्वोत्पत्तावेवोपयुज्यते। संनिपत्योपकारकं तु द्रव्यदेवतासंस्कारद्वारा यागस्वरूपेऽप्युपयुज्यते। इदमेव चाश्रयि कर्मेत्युच्यते। तदेवं निरूपितः संक्षेपतो विनियोगविधिः।

द्रव्यादि रूप उद्देश्यके विना ही केवल विधीयमान जो कर्म उसे आरादुपकारक कहते हैं। जैसे प्रयाजादि। आरादुपकारक की उपयोगिता परमापूर्वोत्पत्तिमें ही होता है। सन्निपत्योपकारककी तो याग स्वरूप और द्रव्य देवता संस्कार द्वारा यागोत्पत्त्यपूर्वमें भी उपयोगिता होती है। (इदं) सन्निपत्योपकारकको ही मीमांसा में आश्रयि कर्मपदसे व्यहार करते हैं। इस तरह संक्षेपसे विनियोग विधिका निरूपण हो गया॥

प्रयोगविधिः।

प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः स चाङ्गवाक्यैकवाक्यतापन्नः प्रधानविधिरेव। स हि साङ्गं प्रधानमनुष्ठापयन्विलम्बे प्रमाणाभावादविलम्बापरपर्यायं प्रयोगप्राशुभावं विधत्ते। न च तदविलम्बेऽपि प्रमाणाभाव इति वाच्यम्। विलम्बे हि अङ्गप्रधानविध्येकवाक्यतावगततत्साहित्यानुपपत्तिः। विलम्बेन क्रियमाणयोः पदार्थयोरिदमनेन सहकृतमिति साहित्यव्यवहाराभावात्। स चाविलम्बो नियते क्रमे आश्रीयमाणे भवति। अन्यथा हि किमेतदनन्तरमेतत्कर्तव्यमेतदनन्तरं वेति प्रयोगविक्षेपापत्तेः। अतः प्रयोगविधिरेव स्वविधेयप्रयोगप्राशुभावसिद्ध्यर्थं नियतं क्रममपि पदार्थविशेषणतया विधत्ते। अत एवाङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम्।

प्रयोगप्राशुभाव (प्रयोगको शीघ्र करनेके) बोधक वाक्यको प्रयोग विधि कहते हैं प्रयाजादि अंग वाक्योंके साथ एकवाक्यता होने पर 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि प्रधान विधिको ही प्रयोग विधि कहते हैं। क्योंकि अंग सहित प्रधान प्रयोगके विलम्ब होनेमें किसी प्रमाणके नहीं रहनेके कारण प्रधान विधि ही अंग सहित प्रधान कर्ममें प्रवृत्ति कराती हुई अविलम्ब नामक

प्रयोग प्राशुभाव (शीघ्रता) का विधान करती है। यहाँ यह शंका होती है कि जैसे प्रयोग विलम्बमें कोई प्रमाण नहीं है वैसे ही प्रयोगकी शीघ्रतामें भी कोई प्रमाण नहीं है। इसका उत्तर यह है कि प्रयाजादि अंग और दर्शादि प्रधान विधि की एकवाक्यतासे उन दोनोंके साहित्य (साथ) का ज्ञान होता है। यदि प्रयोगमें विलम्ब होगा तो साहित्यकी उत्पत्ति नहीं होगी। क्योंकि जैसे 'पूर्व और पर दिनोंमें किये गये अध्ययनादिकार्योंमें "आजका अध्ययन पूर्व दिनके अध्ययनसे सहकृत है" ऐसा व्यवहार नहीं होता है इसी तरह विलम्बसे किए गये अंग और प्रधानमें "अंग सहकृत प्रधान है" ऐसा साहित्य का व्यवहार नहीं होगा जब क्रम नियत रहता है तभी अंग और प्रधानका अविलम्ब होता है। जैसे पहले आग्नेय हविष्का अभिधारण (पिघला हुआ घृतसे सेचन) करना चाहिए तब ऐन्द्रदधि हविष्का अभिधारण करना चाहिए। एवं उसके बाद आग्नेय यागका अनुष्ठान तदनन्तर ऐन्द्रयागका अनुष्ठान करना चाहिए। यही क्रम नियत है (अन्यथा) ऐसा क्रम नहीं स्वीकार करने पर "क्या आग्नेय हविष् अभिधारणके बाद ऐन्द्रदधि हविष्का अभिधारण करना चाहिए अथवा ऐन्द्रदधि हविष् अभिधारणके बाद आग्नेय हविष्का अभिधारण करना चाहिए ?" ऐसा सन्देह होनेसे प्रयोगविक्षेप (सभी अनुष्ठानका नाश) हो जायगा। अर्थात् 'संशयात्मा विनश्यति' इस वचनसे ऐहलौकिक सुख साधनमें भी जब संशयात्मा की प्रवृत्ति नहीं होती तब पारलौकिक सुख साधनमें प्रवृत्ति होना तो सुतरां असंभव है। अतः प्रयोगविधि ही अनुष्ठानोंकी अविलम्बसे सिद्धिके लिये नियत क्रम का विधान करेगी। पदार्थ (क्रिया) में क्रम विशेषण है अतः वाक्यभेद नहीं होगा क्योंकि विशेष विशिष्टके विधानसे वाक्यभेद नहीं होता किन्तु अलग २ विधानसे ही वाक्यभेद होता है। अतएव प्रयोग विधिसे क्रमविशिष्टके विधान होनेके कारण "अंगोंके क्रम बोधक विधिको प्रयोग विधि कहते हैं" ऐसा भी लक्षण हो सकता है॥

क्रमस्वरूपम्।

तत्र क्रमो नाम विततिविशेषः, पौर्वापर्यरूपो वा।

क्रम बोधक पद-घटक (एकदेश) क्रम पदार्थ क्या है ? ऐसी आकांक्षा होने पर क्रमका लक्षण करते हैं—वितति (विस्तार) विशेषको ही क्रम कहते हैं। यहां पर वितति विशेषको क्रमका लक्षण करने पर अनेक क्रियाओंसे युगपत् अनुष्ठित

पदार्थोंमें अतिव्याप्ति होगी क्योंकि अनेक कर्ताओं द्वारा योगपद्येन (एक समय में) किये गये कार्योंमें भी विस्तार हैं परन्तु वहां पर क्रमका व्यवहार नहीं होता अतः दूसरा लक्षण कहते हैं—पौर्वापर्य्य (पूर्वोत्तरभावेन स्थित) को क्रम कहते हैं ॥

श्रुत्यादिषट्प्रमाणानि ।

तत्र षट् प्रमाणानि —श्रुति-अर्थ-पाठ-स्थान-मुख्य-प्रवृत्त्याख्यानि ।

क्रमके नियममें ६ प्रमाण है जैसे श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख और प्रवृत्ति।

श्रुतिलक्षणम् ।

तत्र क्रमपरवचनं श्रुतिः। तच्च द्विविधम्—केवलक्रमपरं तद्विशिष्ट-पदार्थपरं चेति। तत्र 'वेदं कृत्वा वेदिं करोती'ति केवलक्रमपरं, वेदि-करणादेर्वचनान्तरप्राप्तत्वात। 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष' इति तु क्रमविशिष्ट-पदार्थपरम्। एकप्रसरताभङ्गभयेन भक्षानुवादेन क्रममात्रस्य विधातुमशक्य-त्वात्। सेयं श्रुतिरितरप्रमाणापेक्षया बलवती। तेषां वचनकल्पनद्वारा क्रमप्रमाणत्वात्। अत एवाश्विनग्रहस्य पाठक्रमात्तृतीयस्थाने ग्रहणप्रसक्तौ आश्विनो दशमो गृह्यत इति वचनाद्दशमस्थाने ग्रहणमित्युक्तम्।

वृत्ति (शक्ति अथवा लक्षणा) से क्रम बोधक शब्दको श्रुति कहते हैं। श्रुति के दो भेद हैं, केवल क्रम बोधक और 'क्रमविशिष्ट पदार्थ बोधक'। 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति" यहां पर केवल क्रमका विधान है इसका अर्थ है कि—वेद (कुशमुष्टि विशेष) को करनेके वाद वेदि (आहवनीयदेश और गार्हपत्यके मध्यमें चार अंगुलके खात–गड्ढाको वेदि कहते हैं जहाँ पर हवि विशेष डाला जाता है) करनी चाहिए। यहां पर वेदिकरण वचनान्तरसे ही प्राप्त है केवल क्त्वा प्रत्ययसे क्रमका विधान होता है। एवं 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' यहां पर प्राथम्यविशिष्ट भक्षका विधान है अतः यह क्रमविशिष्ट पथार्थ बोधकका उदाहरण है। यहां पर भी भक्षको उद्देश्य करके प्राथम्य मात्रका विधान नहीं होता क्योंकि भक्षका विधान वचनान्तरसे प्राप्त नहीं है अतः इसी (वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः) वाक्यसे यदि पहले भक्षका विधान करके पुनः भक्षका अनुवाद कर प्राथम्यका विधान करेंगे तो सर्व-मतसिद्ध एकप्रसरता (एकवाक्यता) का भंग हो जायगा। अतः प्राथम्यविशिष्ट भक्षका ही विधान होता है इसलिये विधेय होनेसे एकवाक्यताका भंग (वाक्यभेद)

नहीं होगा। यह श्रुति अर्थादि प्रमाणों की अपेक्षा बलवती है, क्योंकि क्रमबोधक वचनकी कल्पना करने पर ही क्रममें अर्थादि प्रमाण हो सकते हैं और श्रुतिमें क्रमबोधक वचन प्रत्यक्षसिद्ध है अतः उसकी कल्पना नहीं करनी पड़ती। श्रुतिको सबसे प्रबल होनेसे ही ज्योतिष्टोम यागमें ऐन्द्रवायवादिग्रहोंमें आश्विनग्रह (सोम-ग्रह) का तृतीय स्थानमें पाठ होने पर तृतीय स्थानमें ग्रहणकी प्राप्ति होने पर भी 'आश्विनो दशमो गृह्यते' इस वचनसे दशम स्थानमें ग्रहण होता है। अर्थात् पाठ, क्रमका बोधक नहीं होता है किन्तु विना क्रमसे पाठकी अनुपपत्ति होती हैं अतः पाठसे क्रमकी कल्पना करते हैं। किन्तु 'दशमः' यह श्रुति साक्षात् क्रम बोधक है अतः पाठसे श्रुति प्रबल है।

अर्थक्रमलक्षणम्।

यत्र प्रयोजनवशेन क्रमनिर्णयः सोऽर्थक्रमः। यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति', 'यवागूं पचती' त्यग्निहोत्रयवागूपाकयोः। अत्र हि यवाग्वा होमार्थत्वेन तत्पाकः प्रयोजनवशेन पूर्वमनुष्ठीयते। स चायं पाठक्रमाद् बलवान्। यथापाठं ह्यनुष्ठाने क्लृप्तप्रयोजनबाधोऽदृष्टार्थत्वं च स्यात्। न हि होमानन्तरं क्रियमाणस्य पाकस्य किञ्चिद् दृष्टं प्रयोजनमस्ति।

प्रयोजनसे जहां क्रमका निश्चय हो उसको अर्थ क्रम कहते हैं। जैसे अग्निहोत्रहोम और यवागूपाक (लपसी अर्थात् कम घी का हलुआ) में अर्थ क्रम है। क्योंकि यहां पर यवागू होमके लिए बनायी जाती है इसलिये होम रूप प्रयोजनसे यवागू-पाक, अग्निहोत्र होमसे पहले किया जाता है। यदि होमसे पीछे यवागू-पाक हो तो 'यवाग्वा अग्निहोत्रं जुहोति' यह वचन व्यर्थ हो जायगा। अर्थक्रम पाठक्रमसे बलवान् होता है। क्योंकि पाठके अनुसार पहले होम और पीछे यवागू-पाक किया जाय तो (क्लृप्त) निश्चित प्रयोजन (यवागूसे अग्निहोत्र होम रूप) का बाध हो जायगा और यवागूपाकका अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) प्रयोजन मानना पड़ेगा। क्योंकि होमके बाद यवागूपाकका कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं है। यदि पहले यवागूपाक होता है तो उसका होमरूप दृष्ट प्रयोजन होता है।

पाठक्रमलक्षणम्।

पदार्थबोधकवाक्यानां यः क्रमः स पाठक्रमः। तस्माच्च पदार्थानां क्रम आश्रीयते। येन हि क्रमेण वाक्यानि पठितानि तेनैव क्रमेणाधीता-

न्यर्थप्रत्ययं जनयन्ति। यथाप्रत्ययं च पदार्थानामनुष्ठानम्। स च पाठो द्विविधः—मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठश्चेति। तत्राग्नेयाग्नीषोमीययोस्तत्तद्याज्यानुवाक्यानां पाठाद्यः क्रम आश्रीयते स मंत्रपाठात्।

पदार्थ बोधक (कहने वाला) वाक्योंका जो क्रम है उसको पाठक्रम कहते हैं। पाठक्रमसे पदार्थोंका क्रम जाना जाता है। क्योंकि जिसी क्रमसे वाक्यका पाठ रहता है उसी क्रमसे पढ़ा जाता है। और उसी क्रमसे अर्थोंका ज्ञान होता है। बादमें (यथाप्रत्ययं) जिस क्रमसे पदार्थोंका ज्ञान होता है उसी क्रमसे पदार्थोंका अनुष्ठान होता है। इस पाठके दो भेद हैं—मंत्रपाठ और ब्राह्मणपाठ।

स चायं मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठाद् बलीयान्, अनुष्ठाने ब्राह्मणवाक्यापेक्षया मन्त्रपाठस्यान्तरङ्गत्वात्। ब्राह्मणवाक्यं हि प्रयोगाद् बहिरेवेदं कर्तव्यमिति अवबोध्य कृतार्थम्। मन्त्राः पुनः प्रयोगकाले व्याप्रियन्ते. अनुष्ठानक्रमस्य स्मरणक्रमाधीनत्वात्। तत्क्रमस्य च मन्त्रक्रमाधीनत्वाद् अन्तरङ्गोऽयं मन्त्रपाठ इति। प्रयाजानां 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति' इत्येवंविधपाठक्रमाद्यः क्रमः स ब्राह्मणपाठक्रमात्। यद्यपि ब्राह्मणवाक्यान्यर्थं विधाय कृतार्थानि तथापि प्रयाजादीनां क्रमस्मारकान्तरस्याभावात्तान्येव क्रमस्मारकत्वेन स्वीक्रियन्ते।

मंत्रपाठ क्रमका उदाहरण देते हैं—आग्नेय और अग्नीषोमीय यागमें तत्तत् याज्या और आनुवाक्याओंके पाठसे जो क्रम लिया जाता है वह मंत्रपाठ क्रमसे ही समझना चाहिये। अर्थात् अग्नीषोमीय यागको तैत्तिरीय ब्राह्मणके पञ्चम प्रपाठके द्वितीय अनुवाकमें कहा है और आग्नेययागको षष्ठ प्रपाठके तीसरे अनुवाक में कहा है परन्तु मन्त्रपाठमें प्रथम आग्नेय यागका मन्त्र है पश्चात् अग्नीषोमीय याग का मंत्र है। अतः मन्त्रपाठ क्रमसे प्रथम आग्नेय यागका ही अनुष्ठान होता है पीछे अग्नीषोमीय यागका अनुष्ठान होता है। यहां पर यह शंका उठती है कि ब्राह्मणपाठ क्रमसे प्रथम अग्नीषोमीय यागका ही अनुष्ठान क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर करते हैं कि ब्राह्मणपाठसे मन्त्रपाठ बलवान् होता है क्योंकि अनुष्ठानमें ब्राह्मणवाक्यकी अपेक्षा मंत्र पाठ अन्तरंग (स्वसमीप) है। मंत्रपाठ को अन्तरंग सिद्ध करते हैं—प्रयोग (अनुष्ठान) से पृथक् ही "अग्नीषोमीय याग करना चाहिए" इस तरह समझा कर ब्राह्मणवाक्य चरितार्थ हो जाता है और मंत्र तो अनुष्ठानकालमें ही व्यापार करता है क्योंकि जिस तरह स्मरण होता

है उसी तरह अनुष्ठान किया जाता है और जिस तरह मंत्रका पाठ रहता है उसी तरह स्मरण होता है। इसलिये मंत्रपाठ अन्तरंग हैं संसारमें भी लोग अन्तरंग का ही कार्य करते हैं। अतः मन्त्रपाठ प्रबल है। अब ब्राह्मण पाठक्रमका उदाहरण देते हैं—प्रयाजयागोंमें (समिधो यजति, तनूनपातं यजति) इस तरह पाठसे जो क्रम लिया जाता है वह ब्राह्मण पाठ क्रमसे ही समझना चाहिये। यद्यपि ब्राह्मण वाक्य अर्थ समझा कर चरितार्थ हो जाता है तथापि प्रयाजादि यागोंका स्मारक कोई दूसरा नहीं है अतः ब्राह्मण वाक्य ही क्रमका भी स्मारक होता है।

स्थानलक्षणम्।

स्थानं नामोपस्थितिः। यस्य हि देशे योऽनुष्ठीयते तत्पूर्वतने पदार्थे कृते स एव प्रथममुपस्थितो भवतीति युक्तं तस्य प्रथममनुष्ठानम्। अत एव साद्यस्के–अग्नीषोमीय–सवनीया–नुबन्ध्यानां सवनीयदेशे सहानुष्ठाने कर्तव्ये आदौ सवनीयपशोरनुष्ठानमितरयोः पश्चात्। तस्मिन्देशे आश्विन-ग्रहणानन्तरं सवनीयस्यैव प्रथममुपस्थितिः।

उपस्थितिको स्थान कहते हैं। अर्थात् प्रकृति यागके नानादेशोंमें वर्तमान पदार्थोंका विकृति यागमें अतिदेश वचनसे एकदेशमें अनुष्टान करना हो तो जिसके देशमें अनुष्ठान करेंगे उसका पहले अनुष्टान होता है पश्चात् दूसरोंका अनुष्ठान होता है इसीको स्थान क्रम कहते हैं। अर्थात् उक्त उपस्थित विशेषसे जो अनुष्ठान क्रम ज्ञात होता है उसीको स्थान क्रम कहते हैं। क्योंकि जिसके देशमें जो अनुष्ठान किया जाता है उससे पूर्ववर्ति पदार्थोंका अनुष्टान कर लेने पर दूसरोंकी अपेक्षा उसीकी पहले उपस्थिति होती है। अतः उसका ही प्रथम अनुष्ठान करना उचित है। (अतएव) प्रथमोपस्थितका प्रथम अनुष्ठान करना उचित होनेके कारण ही साद्यस्क (सोमयाग) में सवनीयदेशमें अग्नीषोमीय, सवनीय और आनुबन्ध्य पशुओंका एकसाथ अनुष्ठानकी प्राप्ति होने पर भी प्रथम सवनीयपशुका ही अनुष्ठान होता है पश्चात् अग्नीषोमीयपशु और आनुबन्ध्यपशुका अनुष्ठान होता है। क्योंकि सवनीय देशमें आश्विन ग्रहण (सोमग्रह) के बाद सवनीय की ही प्रथम उपस्थिति है।

तथा हि ज्योतिष्टोमे त्रयः पशुयागाः–अग्नीषोमीयः सवनीय आनुबन्ध्यश्चेति। ते च भिन्नदेशाः–अग्नीषोमीय औपवसथ्येऽह्नि, सवनीयः सुत्याकाले, आनुबन्ध्यस्त्वन्ते। साद्यस्को नाम यागविशेषः। स चाव्यक्त-

त्वाज्ज्योतिष्टोमविकारः। अतस्ते त्रयोऽपि पशुयागाः साद्यस्के चोदकप्राप्ताः। तेषां च तत्र साहित्यं श्रुतं 'सह पशूनालभेत' इति। तच्च साहित्यं सवनीयदेशे, तस्य प्रधानप्रत्यासत्तेः, स्थानातिक्रमसाम्याच्च।

विकृति याग में आश्विनग्रहण के बाद ही सवनीय याग का स्थान है यह बतलाने के लिये याग का पहले प्रकृति याग में सवनीय स्थान बतलाते हैं—ज्योतिष्टोम में तीन पशुयाग हैं–अग्नीषोमीय, सवनीय और आनुबन्ध्य। इन तीनों यागोंके अलग २ देश हैं। जैसे औपवसथ्यनामकदिनमें अग्नीषोमीयका और सुत्याकाल में सवनीयका तथा अवभृथके बाद आनुबन्ध्यका विधान है। साद्यस्क सोमयाग का नाम है। साद्यस्कमें किसी देवताका निर्देश नहीं है अतः यह याग ज्योतिष्टोम का विकृतियाग है। इसलिये "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" इस अतिदेशसे साद्यस्क यागमें भी पूर्वोक्त तीनों पशुयाग प्राप्त होते हैं।

साद्यस्क यागमें (सह पशूनालभेत) इस वचनसे उन तीनों पशुयागोंमें साहित्य का श्रवण होता है। वह साहित्य सवनीयदेशमें ही होगा क्योंकि जैसे ज्योतिष्टोमरूपप्रकृति यागमें सुत्या (सोमरस निकालनेका) समयकालिक सवनीय को प्रधान (सोम) के साथ प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) है उसी तरह विकृति साद्यस्क यागमें भी सुत्याकालिक सवनीयका प्रधान (सोम) के साथ प्रत्यासत्ति है और सवनीयदेशमें साहित्य होनेसे (केवल अग्नीषोमीय और आनुबन्ध्यके ही स्वस्वस्थानका अतिक्रमण होता है। अतः साद्यस्कमें भी तीनोंका स्थान सवनीयदेश (सुत्याकाल) ही माना जाता है।

सवनीयदेशे ह्यनुष्ठानेऽग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोः स्वस्वस्थानातिक्रमो भवति (प्रधानप्रत्यासत्तिलाभश्च।) अग्नीषोमीयदेशे त्वनुष्ठाने सवनीयस्य स्वस्थानातिक्रममात्रम्। अग्नीषोमीयस्य सवनीयस्थानातिक्रमः अनुबन्ध्यस्य तु स्वस्थानातिक्रमः सवनीयस्थानातिक्रमश्च स्यादिति त्रयाणां स्वस्वस्थानातिक्रमः। एवमनुबन्ध्यदेशेऽग्नीषोमीयस्य द्रष्टव्यः स्थानातिक्रमः। तथा च सवनीयदेशे सर्वेषामनुष्ठाने कर्तव्ये सवनीयस्य प्रथममनुष्ठानम्। आश्विनग्रहणानन्तरं हि सवनीयदेशः।

उक्त स्थानातिक्रमगमें लाघव बतलाते हैं, सवनीयदेश (सुत्याकाल)में अनुष्ठान करनेसे केवल अग्नीषोमीय और आनुबन्ध्यके ही अपने २ स्थानका अतिक्रमण

होता है और प्रधान (सोम) के साथ प्रत्यासत्तिका भी लाभ होता है किन्तु सवनीय का सुत्याकाल रूप स्वस्थान का अतिक्रमण नहीं होता है। और अग्नीषोमीय देश (औपवसथ्यदिन)में अनुष्ठान करने पर सवनीय का स्वस्थान"(सुत्याकाल) का अतिक्रमण होता है एवं विकृति यागमें साहित्यविषयक "सह पशूनालभेत" इस विधिसे अग्नीषोमीयपशुका जो सवनीय देश है उसका भी अतिक्रमण होता है इसी तरह आनुबन्ध्यपशुके स्वस्थान (अवभृथके बाद) का अतिक्रमण होता है और साहित्य-विधिसे प्राप्त सवनीय स्थान (सुत्याकाल) का अतिक्रमण होता है। एवं आनुबन्ध्यदेश (अवभृथान्त) में तीनोंके अनुष्ठान करनेसे सवनीयके स्वस्थान (सौत्यदिन) का अतिक्रमण (दूसरे स्थान पर चला जाना) होता है और आनुबन्ध्यपशुका साहित्य-विधिसे प्राप्त जो सवनीय देश है उसका अतिक्रमण होता है एवं अग्नीषोमीयपशुके स्वस्थान (औपवसथ्यदिन) का अतिक्रमण और पूर्वोक्त रीतिसे प्राप्त सवनीय देशका भी अतिक्रमण होता है। अतः सवनीयदेशमें अनुष्टान करने पर सवनीयपशुका स्वस्थानातिक्रमण नहीं होता है। अन्य देशोंमें करनेसे तो सबोंका स्वस्थानातिक्रमण होता है। इस लिये सवनीय देश में ही अनुष्ठान करना चाहिए। इस तरह सवनीय देशमें सब अनुष्ठानोंके निर्णय होने पर सर्वप्रथम सवनीयपशुका ही अनुष्ठान होगा। क्योंकि आश्विन (सोमग्रह) ग्रहणके अव्यवहित उत्तर कालमें ही उसकी उपस्थिति सर्वप्रथम होती है।

प्रकृता—"वाश्विनग्रहं कृत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोती"त्याश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयो विहित इति साद्यस्केऽप्याश्विनग्रहणे कृते सवनीय एवोपस्थितो भवति। अतो युक्तं तस्य स्थानात्प्रथममनुष्ठानमितरयोस्तु पश्चादित्युक्तम्।

विकृति यागके सवनीय स्थानका निर्णायक प्रकृति याग सम्बन्धि सवनीय स्थान को श्रुतिसे सिद्ध करते हैं—प्रकृति (ज्योतिष्ठोम) याग में (त्रिगुणितरज्जु) से यूपका परिवेष्टन कर आश्विन (सोम ग्रह) ग्रहणको करनेके बाद सवनीयपशुका उपाकरण (स्पर्श) करना चाहिए इस तरह आश्विन ग्रहणके बाद सवनीय का देश सिद्ध होता है। अतः साद्यस्कमें भी आश्विन ग्रहण करनेके बाद सवनीय ही उपस्थित होता है। इसलिये स्थान क्रमसे सवनीयपशुका सर्वप्रथम अनुष्ठान करना उचित है।

मुख्यक्रमलक्षणम् ।

प्रधानक्रमेण योऽङ्गानां क्रमः स मुख्यक्रमः । येन हि क्रमेण प्रधानानि क्रियन्ते तेनैव क्रमेण तेषामङ्गान्यनुष्ठीयन्ते चेत् तदा सर्वेषामङ्गानां स्वैः स्वैः प्रधानैस्तुल्यं व्यवधानं भवति । व्युत्क्रमेणानुष्ठाने केषांचिदङ्गानां स्वैः प्रधानैरत्यन्तमव्यवधानं केषांचिदत्यन्तं व्यवधानं स्यात्, तच्चायुक्तं, प्रयोगविध्यवगतसाहित्यबाधापत्तेः । अतः प्रधानक्रमोऽप्यङ्गक्रमे हेतुः । अत एव प्रयाजशेषेणादावाग्नेयहविषोऽभिघारणं पश्चादैन्द्रस्य दध्नः, आग्नेयैन्द्रयागयोः पौर्वापर्यात् । एवं च द्वयोरभिघारणयोः स्वस्वप्रधानेन तुल्यमेकान्तरितं व्यवधानं, व्युत्क्रमेणाचारे त्वाग्नेयहविरभिघारणाग्नेययागयोरत्यन्तमव्यवधानम्, ऐन्द्रदध्यभिघारणैन्द्रयागयोर्द्व्यन्तरितं व्यवधानं तच्चायुक्तमित्युक्तमेव ।

जिस क्रमसे प्रधानोंका अनुष्ठान किया जाय उसी क्रमसे अंगोंका जो अनुष्ठान किया जाय उसको मुख्य क्रम कहते हैं । क्योंकि जिस क्रमसे प्रधानोंका अनुष्ठान होता हो उसी क्रमसे यदि अंगोंका अनुष्ठान किया जाय तो सब अंगों का अपने २ प्रधानोंसे तुल्य व्यवधान होता है (व्युत्क्रम) विपरीत क्रमसे अनुष्ठान करने पर किसी अंगका अपने प्रधानके साथ अत्यन्त अव्यवधान (सामीप्य) हो जायगा और किसी अंगका अपने प्रधानके साथ अत्यन्त व्यवधान (दूर) हो जायगा यह उचित नहीं है । क्योंकि प्रयोगविधिसे अंगोंके साथ प्रधान का जो साहित्य होता है उसका उच्छेद हो जायगा । इसलिये अंगोंके क्रममें प्रधानोंका क्रम कारण है । अतः अंग क्रममें प्रधान क्रमको कारण होनेसे ही प्रयाजके शेष (अन्तभाग) में प्रथम आग्नेय हविषका अभिघारण (पिघला हुआ घृतसे अभिषेक) होता है पश्चात् ऐन्द्रदधि हविषका अभिघारण होता है । क्योंकि प्रथम आग्नेय याग और पश्चात् ऐन्द्रयाग होता है यह बात पहले भी कह चुके हैं । इस तरहसे दोनों अभिघारणोंमें स्वस्व प्रधानसे एकान्तरित (मध्यमें एक) व्यवधान होता है । जैसे पहले आग्नेय हविषका अभिघारण तब ऐन्द्रदधिका अभिघारण बादमें आग्नेय याग तब ऐन्द्रयाग होनेसे आग्नेय हविष अभिघारण और आग्नेय यागके बीच केवल एक ऐन्द्रदधिका अभिघारण व्यवधान होता है एवं ऐन्द्रदध्यभिघारण और ऐन्द्रयागके मध्यमें केवल आग्नेय याग व्यवधान

होता है। विपरीत क्रमसे करने पर आग्नेय हविष अभिघारण और आग्नेय याग में कोई व्यवधान नहीं होगा और ऐन्द्रदध्यभिघारण और ऐन्द्रयागमें दो व्यवधान होंगे। जैसे प्रथम ऐन्द्रदध्यभिघारण तब आग्नेय हविष अभिघारण उसके बाद आग्नेय याग तब ऐन्द्रयाग करने पर दो व्यवधान स्पष्ट हैं। ऐसा व्यवधान होना अनुचित है यह पहले कह चुके हैं।

स च मुख्यः क्रमः पाठक्रमाद् दुर्बलः। मुख्यक्रमो हि प्रमाणान्तरसापेक्षप्रधानक्रमप्रतिपत्तिसापेक्षतया विलम्बितप्रतिपत्तिकः। पाठक्रमस्तु निरपेक्षस्वाध्यायपाठक्रममात्रसापेक्षतया न तथेति बलवान्। स चायं मुख्यः क्रमः प्रवृत्तिक्रमाद् बलवान्। प्रवृत्तिक्रमे हि बहूनामङ्गानां प्रधानविप्रकर्षात्, मुख्यक्रमे तु संनिकर्षात्।

यह मुख्य क्रम पाठक्रमसे दुर्बल है क्योंकि पहले प्रमाणान्तरसे प्रधान क्रमका (प्रतिपत्ति) ज्ञान होगा बादमें प्रधान क्रम ज्ञानसे मुख्य क्रमका ज्ञान होगा अतः मुख्य क्रमका ज्ञान विलम्बसे होगा। पाठक्रम में केवल स्वाध्याय पाठक्रम की ही अपेक्षा होती है और स्वाध्याय पाठक्रममें किसीकी अपेक्षा नहीं होती है। अतः पाठक्रम बलवान् है। जैसे दर्श-पूर्णमास में पूर्णिमामें उपांशु (याग) और अग्नीषोमीय याग कहे हैं। उनमें उपांशुयागका द्रव्य आज्य (घृत) है आज्यका धर्म उत्पवन (ऊपर फेकना) प्रभृति है। अग्नीषोमीय यागका द्रव्य पुरोडाश है। और उसका धर्म निर्वापन (काटना) अवघात प्रभृति है। यहां पर यह संशय होता है कि पहले आज्य धर्मका अनुष्ठान होना चाहिए अथवा पुरोडाश धर्मका अनुष्ठान होना चाहिये? तब पूर्वपक्ष होता है कि प्रधान क्रमके अनुसारसे ही अंगोंका क्रम होता है। यहां पर पहले उपांशु याग है पश्चात् अग्नीषोमीय याग। अतः पहले उपांशुयागका द्रव्य आज्य धर्मका ही अनुष्ठान होना चाहिए पश्चात् पुरोडाश धर्मका। उसके बाद सिद्धान्त करते हैं कि प्रथम पुरोडाश धर्मका पाठ है पश्चात् आज्यधर्मका पाठ है। उनमें मुख्य क्रमसे आज्यधर्मका अनुष्ठान प्राप्त रहने पर भी उसको बाधकर पाठक्रम से पुरोडाश धर्मका ही अनुष्ठान करना चाहिए। क्योंकि वैदिक शब्दोंसे पाठक्रमका- ज्ञान शीघ्र हो जाता है और मुख्य क्रमानुसारी क्रमका तो युक्तियोंसे कल्पना करने पर ज्ञान होता है। अतः पाठक्रमसे मुख्य क्रम दुर्बल है। परन्तु प्रवृत्ति क्रमसे मुख्यक्रम बलवान् होता है क्योंकि प्रवृत्ति क्रममें बहुतों अंगोंको

प्रधानके साथ विप्रकर्ष (दूरता) हो जाता है और मुख्य क्रममें अंगोंको प्रधान के साथ (संनिकर्ष) सामीप्य रहता है। जैसे दर्शपूर्णमास यागमें आग्नेय यागका अनुष्ठान होता है पश्चात् सांनाय्य (दधि-दूध रूप हविविशेष) का अनुष्ठान होता है सांनाय्यके वत्सापाकरण (बछड़ेको हटाना) दोहनादि अर्थात् दुग्धधर्म= वत्ससंयोग और हटाना एवं दुहना आदि धर्मोंका पहले अनुष्ठान होता है वहां यदि प्रवृत्तिक्रमसे अवदानाभिघारण प्रभृति सभी अंगोंका पहले ही अनुष्ठान हो पश्चात् आग्नेय धर्म=अवदानादिका अनुष्ठान तब आग्नेय यागका और बाद में सांनाय्य यागका अनुष्ठान किया जाय तो सभी सांनाय्य धर्मोंको अपने प्रधान सांनाय्य यागके साथ मध्यमें आग्नेय धर्मानुष्ठान और आग्नेय यागानुष्ठान दो से व्यवधान होगा। यदि वत्सापाकरण प्रभृति कितने धर्मोंका पहले अनुष्ठान करने पर भी अवदानादि दूसरे धर्मोंका अनुष्ठान मुख्य क्रमानुरोधसे आग्नेय धर्मानुष्ठान करनेके बाद ही करते हैं तब सभी आग्नेय और सान्नाय्य धर्मोंका अपने २ प्रधानके मध्यमें विजातीय एक २ व्यवधान होता है अर्थात् आग्नेय धर्मोंका सान्नाय्य धर्मोंसे और सान्नाय्य धर्मोंका आग्नेय यागसे व्यवधान होता है। अतः प्रवृत्तिक्रमसे मुख्य क्रम बलवान् है।

प्रवृत्तिक्रमलक्षणम्।

सहप्रयुज्यमानेषु प्रधानेषु संनिपातिनामङ्गानामावृत्त्यानुष्ठाने कर्तव्ये हि द्वितीयादिपदार्थानां प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमाद्यः क्रमः स प्रवृत्तिक्रमः। यथा प्राजापत्यपश्वङ्गेषु। प्राजापत्या हि 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ती'ति वाक्येन तृतीयानिर्देशात्सेतिकर्तव्यताका एककालत्वेन विहिताः, अतस्तेषां तदङ्गानां चोपाकरणनियोजनप्रभृतीनां साहित्यं संपाद्यम्। तच्च प्राजापत्यपशूनां संप्रतिपन्नदेवताकत्वेन युगपदनुष्ठानादुपपद्यते। तदङ्गानां चोपाकरणादीनां युगपदनुष्ठानमशक्यम्। अतस्तेषां साहित्यमव्यवहितानुष्ठानात्संपाद्यम्।

अंगोंके साथ २ अनुष्ठान किये जानेवाले प्रधानोंमें (संनिपातिनामंगानाम्) सन्निपत्योपकारक अंगोंकी आवृत्तिसे अनुष्ठान कर्तव्य हो तो द्वितीयादि पदार्थोंका प्रथमानुष्ठित पदार्थ क्रमसे जो क्रम होता है उसको प्रवृत्तिक्रम कहते हैं। जैसे प्राजापत्य पशुओंके अंगोंमें "वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति" यहां पर प्राजा-

पत्यैः इस तृतीया श्रुतिसे इतिकर्तव्यताके साथ २ समानकालमें अंग और प्राजापत्य पशुओं (प्रजापतिर्देवता यस्य सः प्राजापत्यः स एव पशुयागः) का अनुष्ठान विहित है अतः प्राजापत्य और उनके अंगोंके उपाकरण-नियोजनादि (यूपबन्धन) का साहित्य-सम्पादन करना चाहिए।

तच्चैकस्योपाकरणं विधायापरस्योपाकरणं विधेयम। एवं नियोजनादि-क्रमपि। तथा च प्राजापत्येषु कस्माच्चित्पशोरारभ्य एकं सर्वत्रानुष्ठाय द्वितीयादिपदार्थस्तेनैव क्रमेणानुष्ठेयः स प्रवृत्तिक्रमः। सोऽयं श्रुत्यादिभ्यो दुर्बलः। तदेवं संक्षेपतो निरूपितः षड्विधक्रमनिरूपणेन प्रयोगविधिः।

(तच्च) यह साहित्य प्राजापत्य पशुओंका प्रजापति देवताकाल—(वैश्वदेवी अनुष्ठानके बाद जो काल) त्व प्राप्त होनेके कारण युगपत् (एक कालमें) अनुष्ठान करनेसे हो सकता है। परन्तु प्राजापत्य पशुओंके जो उपाकरणादि अंग हैं उनका युगपत् अनुष्ठान अशक्य है क्योंकि प्राजापत्य पशु १७ हैं उन सबको एक समयमें एक आदमी उपाकरण और नियोजनादि नहीं कर सकता है। इसलिये उपाकरणादि अंगोंका अव्यवधानसे अनुष्ठान द्वारा साहित्य हो सकता है। अर्थात् एक पशुका उपाकरण कर दूसरे पशुका उपाकरण करनेसे अव्यवधानेन साहित्य हो सकता है। इसी तरह एक पशुका नियोजन (यूपमें बन्धन) कर दूसरेका नियोजन करना चाहिए। वैसा करने पर प्राजापत्य पशुओंमें एक पशुसे आरम्भ कर सब पशुओंमें क्रमशः उपाकरण कर उसी क्रमसे नियोजनादि भी करना चाहिए। इसीको प्रवृत्तिक्रम कहते हैं। यह प्रवृत्तिक्रम श्रुत्यादिक्रमसे दुर्बल है। इस तरहसे संक्षेपमें ६ वों प्रकारके क्रमोंके निरूपणके साथ प्रयोगविधिका निरूपण हुआ॥

अधिकारविधिलक्षणम्।

कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। कर्मजन्यफलस्वाम्यं कर्मजन्यफलभोक्तृत्वम्। स च 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिरूपः। स्वर्गमुद्दिश्य यागं विदधताऽनेन स्वर्गकामस्य यागजन्यफलभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते। 'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान्दहेत्सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपे दि'त्यादिनाऽग्निदाहादौ निमित्ते कर्म विदधता निमित्तवतः कर्मजन्यपापक्षयरूपफलस्वाम्यं प्रतिपाद्यते। एवं 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादिना

शुचिविहितकालजीविनः संध्योपासनजन्यप्रत्यवायपरिहाररूपफलस्वाम्यं बोध्यते।

कर्म (यागादि) जन्य फल (स्वर्गादि) स्वाम्यके बोधक विधिको अधिकार विधि कहते हैं। कर्मजन्य फलभोक्तृत्व (भोग)-को ही कर्मजन्यफलस्वाम्य कहते हैं। कर्मके तीन भेद हैं नित्य, नैमित्तिक और काम्य। जिसको नहीं करने पर प्रत्यवाय (पातक) हो और करने पर प्रत्यवाय-परिहारके अतिरिक्त कोई विशेष फल नहीं हो उसे नित्य कर्म कहते हैं। जिसे नहीं करने पर प्रत्यवाय हो और करने पर फल मिले उसे नैमित्तिक कर्म कहते हैं। और जिसको नहीं करनेसे प्रत्यवाय नहीं हो और करनेसे फल हो उसे काम्य कर्म कहते हैं। इनमें काम्य कर्म के अधिकार विधिका उदाहरण देते हैं—"यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि, यह विधि स्वर्ग-को उद्देश्य करके यागका विधान करती हुई स्वर्गकाम पुरुषको यागजन्य स्वर्ग-रूपफलभागी बतलाती है। एवं नैमित्तिक कर्ममें अधिकारविधिका उदाहरण देते हैं—'यस्याहिताग्नेरि'त्यादि। इसका यह अर्थ है कि जिस अग्न्याधान करनेवाले पुरुषोंका गृह अग्निसे जल जाय वह क्षाम (खिन्नता) गुणविशिष्ट अग्निको अष्टाकपाल (आठ कपालोंमें बनाया गया) पुरोडाश है। यह विधि अग्निदाहरूप निमित्तमें कर्म बतलाती हुई निमित्तवत्पुरुषको (जिनका घर जल गया है उनको) कर्मजन्यपापक्षयरूप फलभागी बतलाती है। अत्र नित्यकर्ममें अधिकार विधिका उदाहरण देते हैं 'अहरहः संध्यामुपासीत' यह विधि (शुचि) पवित्र होकर विहित कालमें जीनेवाले पुरुषोंको संध्योपासनजन्यप्रत्यवायपरिहाररूप फल-भागी बतलाती है।

तच्च फलस्वाम्यं तस्यैव योऽधिकारविशिष्टः, अधिकारश्च स एव यद्वि-धिवाक्येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते। यथा काम्ये कर्मणि फलकामना, नैमित्तिके कर्मणि निमित्तनिश्चयः, नित्ये संध्योपासनादौ शुचिविहितका-लजीवित्वम्। अत एव 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेते' त्यनेन विधिवाक्येन स्वाराज्यमुद्दिश्य विदधतापि न स्वाराज्यमात्रकामस्य तत्फ-लभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते, किंतु राज्ञः सतः स्वाराज्यकामस्यैव, राजत्वस्या-प्यधिकारिविशेषणत्वेन श्रवणात्।

जो व्यक्ति अधिकारविशिष्ट है उसीको फलभोक्तृत्व है। जिसका विधि वाक्यमें पुरुषविशेषणतया श्रवण हो वही अधिकार है। जैसे काम्यकर्ममें फल-

(स्वर्गादि) कामना, नैमित्तिककर्ममें निमित्त-(अग्निदाहादि) निश्चय और नित्यसंध्योपासनादि कर्ममें शुचि-विहितकाल-जीवित्व । अतएव विधिवाक्यमें पुरुषका विशेषण होकर श्रूयमाणको अधिकार होनेके कारणसे ही 'स्वाराज्य चाहनेवाला राजा राजसूययाग करे' यह विधिवाक्य स्वाराज्यको उद्देश्य करके यागका विधान करता हुआ भी केवल स्वाराज्यकाम पुरुषको ही राजसूययाग-जन्यफलभागी नहीं बतलाता है। अपितु राजा होता हुआ स्वाराज्यकाम पुरुषको ही उक्त फल-भागी बनाता है क्योंकि विधि ('राजा राजसूयेने'त्यादि) वाक्यमें अधिकारिपुरुषमें राजत्वका विशेषणरूपसे श्रवण होता है। यहां राजशब्देन क्षत्रियमात्रका ग्रहण है, राज्यसम्बन्धी मात्रका ग्रहण नहीं है। अतः राजसूययाग करनेका अधिकार क्षत्रियको ही है दूसरेको नहीं है।

क्वचित्तु पुरुषविशेषणत्वेनाश्रुतमप्यधिकारिविशेषणम् । यथाध्ययन-विधिसिद्धा विद्या, क्रतुविधीनामर्थज्ञानापेक्षणीयत्वेनाध्ययनविधिसिद्धार्थ-ज्ञानवन्तं प्रत्येव प्रवृत्तेः। एवमग्निसाध्यकर्मसु आधानसिद्धाग्निमत्ता। अग्निसाध्यकर्मणामग्न्यपेक्षत्वेन तद्विधीनामाधानसिद्धाग्निमतं प्रत्येव प्रवृत्तेः।

कहीं पर विधिवाक्यमें पुरुषका विशेषणरूपसे जिसका श्रवण नहीं है वह भी अधिकारीका विशेषण होता है। जैसे अध्ययनविधिसे विद्याका विधिवाक्यमें श्रवण नहीं रहने पर भी विद्या अधिकारीका विशेषण होती है अर्थात् वेदाध्ययनसे जिसको विद्यालाभ हुआ है उसीको यागमें अधिकार है क्योंकि क्रतु (यज्ञ) विधियोंमें अर्थज्ञानकी अपेक्षा होती है इसलिये अध्ययनसे अर्थज्ञानवालेको ही उद्देश्य करके क्रतु-विधिकी प्रवृत्ति होती है। इसी तरहसे अग्निसाध्य विधिमें आधान (स्थापन) से अग्निमत्ताका श्रवण नहीं रहने पर भी वह अधिकारीका विशेषण है अर्थात् जिसने अग्न्याधानसे अग्निका लाभ किया है उसीको अग्नि-साध्यकर्ममें अधिकार है क्योंकि अग्निसाध्यकर्मोंमें अग्निकी अपेक्षा रहती है अतः अग्निसाध्यविधिकी-प्रवृत्ति आधानसिद्ध अग्निवालोंको उद्देश्य करके ही होगी। इन दोनों विशेषणोंसे यह सूचित होता है कि शूद्रको यागमें अधिकार नहीं है। क्योंकि 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेत्' इस वाक्यसे उपनयनोत्तर ही वेदाध्ययन का विधान है। उनयन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका ही होता है अतः शूद्रको वेदाध्ययनमें अधिकार ही नहीं है। एवं 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इस विधिसे

अग्न्याधानमें भी शूद्रको अधिकार नहीं है। यद्यपि 'रथकारोऽग्नीनादधीत', इस वाक्यसे रथकार (शूद्रविशेष) को भी अग्न्याधानमें अधिकार कहा गया है। यहां पर 'रथं करोती'ति इस विग्रहसे त्रैवर्णिकका ग्रहण नहीं होता है किन्तु 'योगाद् रूढिर्बलीयसी' योगसे रूढि बलवती होती है इस नियमसे जातिविशेष वाचक ही रथकार शब्द है। अर्थात् वैश्यामें क्षत्रियसे उत्पन्नको माहिष्य कहते हैं और शूद्रामें वैश्यसे उत्पन्नको करणी कहते हैं और करणीमें माहिष्यसे उत्पन्नको रथकार कहते हैं। श्रीयाज्ञवल्क्य मुनिका वचन भी है—'माहिष्येण करिण्यान्तु रथकारः प्रजायते' इति। तथापि इस रथकारको उत्तरकर्ममें अधिकार नहीं है। जिस यागमें उक्त वचनसे शूद्रका अधिकार हो उस यागमें भी अपूर्वविद्याकी कल्पना करके ही अधिकार होता है दूसरे यागोंमें नहीं।

एवं सामर्थ्यमपि 'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी'ति न्यायात समर्थं प्रत्येव विधिप्रवृत्तेः। तदेवं निरूपितो विधिः।

इसी तरह विधिवाक्योंमें अश्रुत सामर्थ्य भी अधिकारीका विशेषण होता है। क्योंकि 'अर्थको कहनेमें आख्यात (तिङन्त-यजेत) का सहकारी कारण सामर्थ्य (शक्ति) होता है' इस न्यायसे समर्थ अधिकारीको उद्देश्य करके विधिकी प्रवृत्ति होती है। अधिकारीमें सामर्थ्यविशेषण देनेसे यह सूचित होता है कि अन्ध और बधिर प्रभृतिको यागमें अधिकार नहीं है। यहां पर यह विचारणीय विषय है कि अन्ध और बधिर प्रभृति जब चेतन हैं तब उनको भी निरतिशय-सुखरूप स्वर्गकी इच्छा हो सकती है अतः यागमें उनका अधिकार क्यों नहीं है। यदि कहें कि अन्धको आज्य देखनेका सामर्थ्य नहीं है एवं बधिरको अध्वर्युप्रोक्त-मन्त्रश्रवणका सामर्थ्य नहीं है अतः यागमें अधिकार नहीं है तो भी वे यथाशक्ति अंगों का अनुष्ठान कर सकते हैं। क्योंकि 'यजेत स्वर्गकामः' इस प्रधानवाक्यसे सबको अधिकार की प्रतीति होती है अतः अन्धप्रभृतिको भी यागमें अधिकार होना चाहिये। इसका उत्तर कहते हैं कि यदि आज्यादिका अवेक्षणादि पुरुषार्थरूप से विहित किया जाता तो अवेक्षणादि—सामर्थ्य न रहने पर भी यागमें वैकल्य (अङ्गका नाश) नहीं होता किन्तु अवेक्षण (देखना) प्रभृति यागका ही अंग रूपसे विहित है। उस अंगको नहीं करने पर यागमें वैकल्य होनेसे यागका सम्पन्न नहीं होगा अतः यागमें अन्धप्रभृति असमर्थोंका अधिकार नहीं है। इस तरहसे विधिका निरूपण हुआ॥

अथ मन्त्रमीमांसा ।

प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः । तेषां च तादृशार्थस्मारकत्वेनैवार्थवत्त्वम् । नतु तदुच्चारणमदृष्टार्थम्, संभवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्, न च दृष्टस्यार्थस्मरणस्य प्रकारान्तरेणापि संभवान्मन्त्राम्नानं व्यर्थमिति वाच्यम् । मन्त्रैरेव स्मर्तव्यमिति नियमविध्याश्रयणात् ।

प्रयोग (समवेत) सम्बद्ध जो अर्थ (प्रयोजन) है उसका स्मारक मन्त्र है । मन्त्रका ही प्रयोजन है कि प्रयोगसमवेत अर्थका स्मरण करावे किन्तु मन्त्रोच्चारण का अदृष्ट प्रयोजन नहीं है क्योंकि दृष्टफलकी संभावना रहने पर अदृष्टफलकी कल्पना करना अनुचित है । यहां पर यह शंका होती है कि अर्थस्मरणरूपदृष्ट प्रयोजनका ब्राह्मण-वाक्योंसे भी सम्भव है अतः उसके लिये मंत्रोच्चारण करना व्यर्थ है । इसका उत्तर करते हैं कि 'मन्त्रोंसे ही अर्थका स्मरण करे' इस नियम विधिका आश्रयण करनेसे मंत्रका उच्चारण व्यर्थ नहीं होगा ॥

नियमविधिः ।

नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः । यथाहुः 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयत' इति । अस्यार्थः—प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिरपूर्वविधिः, यथा 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिः । स्वर्गार्थकयागस्य प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्यानेन विधानात् ।

जहां पर अनेकों कारणोंसे क्रियाकी सिद्धि सम्भव हो उनमें एक कारणके प्राप्त रहने पर अप्राप्त दूसरे कारणोंका प्रापक (प्राप्ति करानेवाली) विधिको नियमविधि कहते हैं । नियमविधिमें प्रमाण बतलाते हैं—'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ' इत्यादि । इसमें प्रथम चरणका यह अर्थ है कि प्रमाणान्तरसे अप्राप्तका विधायक जो विधि उसे अपूर्व विधि कहते हैं जैसे 'यजेत स्वर्गकामः' स्वर्गके लिये प्रमाणान्तरसे अप्राप्तयागका इससे विधान किया गया है । अतः 'यजेत स्वर्गकामः' यह अपूर्वविधि है ॥

पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः । यथा 'व्रीहीनवहन्ती' त्यादिः । कथमस्य पक्षेऽप्राप्तप्रापकत्वमिति चेदित्थम् । अनेन ह्यवघातस्य वैतुष्यार्थत्वं [illegible] । किंतु नियमः । स

चाप्राप्तांशपूरणम्। वैतुष्यस्य हि नानोपायसाध्यत्वाद्यदावघातं परित्यज्य उपायान्तरं ग्रहीतुमारभते, तदावघातस्याप्राप्तत्वेन तद्विधाननामकमप्राप्तांशपूरणमेवानेन विधिना क्रियते। अतश्च नियमविधावप्राप्तांशपूरणात्मको नियम एव वाक्यार्थः। पक्षेऽप्राप्तावघातस्य विधानमिति यावत्।

द्वितीयचरणका अर्थ और उदाहरण कहते हैं—पक्षमें अप्राप्तका प्रापक विधान को नियत विधि कहते हैं। जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' आदि। यह विधि पक्षमें अप्राप्त का प्रापक कैसे होती है यह बतलाते हैं—इस विधिसे (वैतुष्य) तुषविमोकके लिये अवघात (मुशलसे कूटना) का विधान नहीं है क्योंकि यह अन्वयव्यतिरेक-सिद्ध है, अर्थात् अवघातादि होनेपर व्रीहिका तुषविमोक होगा और अवघातादि नहीं होने पर तुषविमोक नहीं होगा इस तरहके अन्वयव्यतिरेकसे ही वैतुष्यके लिये अवघात सिद्ध है अतः अवघातका अत्यन्त अप्राप्त नहीं होनेसे उसका विधान नहीं हो सकता है। किन्तु 'व्रीहीनवहन्ति' यह नियम विधि है, अर्थात् अवघातसे ही तुषविमोक करना चाहिए। यह नियम अप्राप्तांशका पूरक है क्योंकि अवघात और नखविदलन प्रभृति अनेकों उपायोंसे वैतुष्य हो सकता है। उनमें जब अवघातको छोड़कर नखविदलनसे ही तुषविमोक करना प्रारम्भ करते हैं तब अवघात अप्राप्त हो जाता है अतः उस वाक्यसे अवघात-विधान नामक अप्राप्तांशपूरणका ही विधान होता है। इसलिये नियम विधिमें अप्राप्तांशपूरणात्मक नियम ही वाक्यार्थ है। अर्थात् नियम विधिसे पक्षमें अप्राप्त अवघातका विधान होता है॥

परिसंख्याविधिः।

उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः। यथा—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति। इदं हि वाक्यं न पञ्चनखभक्षणपरं, तस्य रागतः प्राप्तत्वात्। नापि नियमपरं, पञ्चापञ्चनखभक्षणस्य युगपत्प्राप्तेः पक्षेऽप्राप्त्यभावात्। अत इदमपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमिति भवति परिसंख्याविधिः।

तृतीय और चतुर्थ चरण की व्याख्या करते हैं। युगपत् (एक समय) में दो की प्राप्ति रहने पर दूसरों की (व्यावृत्ति) निवृत्तिपरक वाक्यको ही परिसंख्या विधि कहते हैं। जैसे—"पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव। शशकः शल्लकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः" खरगोश, शाही, गोह, गेंडा, कूर्म, इत्यादि, इस

वाक्यसे पञ्चनख-भक्षणका विधान नहीं है क्योंकि रागसे ही पञ्चनख-भक्षण प्राप्त है अत्यन्त अप्राप्त नहीं है अतः विधि भी नहीं है। एवं नियमपरक भी नहीं है क्योंकि एक कालमें शशकादि पञ्च पञ्चनखोंका भक्षण और शशकादिपञ्चभिन्न पञ्चनखोंका भक्षण प्राप्त होनेसे पक्षमें अप्राप्त नहीं है। अतः अपूर्व विधि और नियमविधि नहीं हो सकती है अपितु परिशेषात् परिसंख्या विधि होगी इस वाक्यसे शशकादि-पञ्चभिन्न पञ्चनख-भक्षण की निवृत्ति होती है। वस्तुतः उक्तपञ्च-पञ्चनखभिन्न पञ्चनख-भक्षणका निवृत्तिपरक वाक्य है॥

परिसंख्यायाः श्रौतीत्वलाक्षणिकीत्वभेदौ।

सा च द्विविधा—श्रौती लाक्षणिकी चेति। तत्र 'अत्र ह्येवावयन्ती'ति श्रौती परिसंख्या। एवकारेण पवमानातिरिक्तस्तोत्रव्यावृत्तेरभिधानात्। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति तु लाक्षणिकी इतरनिवृत्तिवाचकपदाभावात्। अत एवैषा त्रिदोषग्रस्ता।

परिसंख्याके दो भेद हैं—श्रौती और लाक्षणिकी। उनमें श्रौती परिसंख्या का उदाहरण है—'अत्र ह्येवावयन्ति' यहां पर अवयन्तिका गायन (गान) अर्थ है। इस वाक्यमें श्रुत एवकारसे पवमान (स्तोत्र विशेषका नाम है) से अतिरिक्त स्तोत्र की निवृत्ति होती है। लाक्षणिकी परिसंख्याका उदाहरण है—"पञ्च पञ्च-नखा भक्ष्याः"। क्योंकि यहां इतरनिवृत्तिवाचक कोई पद नहीं है किन्तु लक्षणासे इतर की निवृत्ति करनी होती है इसलिये इस परिसंख्यामें तीन दोष हैं॥

परिसंख्याया दोषत्रयम्।

दोषत्रयं च श्रुतहानि-रश्रुतकल्पना प्राप्तबाधश्चेति। तदुक्तम्—'श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थप्रकल्पनात्। प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा' इति। श्रुतस्य पञ्चनखभक्षणस्य हानात्, अश्रुताऽपञ्चनखभक्षणनिवृत्तेः कल्पनात्, प्राप्तस्य चापञ्चनखभक्षणस्य बाधादिति। अस्मिंश्च दोषत्रये दोषद्वयं शब्दनिष्ठम्। प्राप्तबाधस्त्वर्थनिष्ठ इति दिक्।

उक्त परिसंख्यामें तीनों दोषोंको बतलाते हैं—श्रुतहानि, अश्रुतकी कल्पना और प्राप्तका बाध। इसमें प्रमाण देते हैं—'श्रुतार्थस्ये'त्यादि। अर्थ स्पष्ट है। उक्त तीनों दोषोंका समन्वय करते हैं—'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इस वाक्यमें श्रुत पञ्च पञ्चनखभक्षण विधानका त्याग करना पड़ता है। तथा अश्रुत शशकादिपञ्च—

भिन्न-पञ्चनखभक्षणाभावकी कल्पना करनी पड़ती है और रागतः प्राप्तः उक्त पञ्चपञ्चनखभक्षणका बाध भी करना पड़ता है। इन तीनों दोषोंमें श्रुतार्थहानि और अश्रुतार्थकल्पना शब्दके दोष हैं और प्राप्तबाध अर्थका दोष है।

येषां तु प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वं न संभवति तदुच्चारणस्यानन्यगत्याऽदृष्टार्थकत्वं कल्प्यत इति नानर्थक्यमिति ।

अब यह शंका होती है कि यदि मन्त्रोच्चारणका प्रयोजन प्रयोगसमवेतार्थ-स्मरण ही है तो 'हुं फट्' आदि मन्त्रोंसे किसी अर्थका स्मरण नहीं होता। अतः वह मन्त्र व्यर्थ हो जायगा। इसका उत्तर देते हैं कि जिन मन्त्रोंसे प्रयोग समवेत अर्थ का स्मरण नहीं होता है, उन मन्त्रोंका उच्चारण (अनन्यगत्या) दूसरा उपाय नहीं रहनेके कारण अदृष्टार्थ ही मानना चाहिये।

अथ नामधेयमीमांसा ।

नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम् । तथा हि—'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यत्रोद्भिच्छब्दो यागनामधेयं तेन च विधेयार्थपरिच्छेदः क्रियते। तथा हि—अनेन वाक्येनाप्राप्तत्वात्फलोद्देशेन यागो विधीयते। यागसामान्यस्याविधेयत्वात यागविशेष एव विधीयते। तत्र कोऽसौ यागविशेष इत्यपेक्षायामुद्भिच्छब्दादुद्भिद्रूपो याग इति ज्ञायते। 'उद्भिदा यागेन पशुं भावयेदि'त्यत्र सामानाधिकरण्येन नामधेयान्वयात् ।

विधेयार्थपरिच्छेदकतया विजातीयके निवृत्तिपूर्वक विधेयार्थका निश्चय करता हुआ नामधेय सार्थक होता है। जैसे 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यहां पर उद्भिद् शब्द यागका वाचक है उद्भिद् शब्दसे विधेयार्थका निश्चय होता है। क्योंकि 'उद्भिदा यजेत' इस वाक्यसे गो आदि पशुरूप फलको उद्देश्य करके अप्राप्त यागका विधान होता है। किन्तु याग सामान्यका यहां विधान नहीं है क्योंकि कारणमें वैलक्षण्यके विना कार्यमें वैलक्षण्य नहीं होता है अतः यागविशेषका ही विधान होता है। वह यागविशेष कौन है इस तरहकी आकांक्षा होने पर उद्भिद् रूप यागविशेषका ज्ञान होता है क्योंकि 'उद्भिदा यागेन पशुं भावयेत्' यहां पर उद्भिद् और यागको (सामानाधिकरण्य) अभेदसे अन्वय होता है अतः उद्भिद् यागका नाम है।

नामधेयत्वे निमित्तचतुष्टयम्।

नामधेयत्वं च निमित्तचतुष्टयात्। मत्वर्थलक्षणाभयाद्वाक्यभेदभयात्तत्प्रख्यशास्त्रात्तद्व्यपदेशाच्चेति।

निम्न चार निमित्तोंसे नामधेयत्व होता है। (१) मत्वर्थ लक्षणाके भयसे। (२) वाक्यभेदके भयसे। (३) तत्प्रख्य शास्त्रसे और (४) तद्व्यपदेशसे।

नामधेयत्वस्य मत्वर्थलक्षणाप्रसङ्गरूपप्रथमनिमित्तोदाहरणम्।

तत्र 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यत्रोद्भिच्छब्दस्य यागनामधेयत्वं मत्वर्थलक्षणाभयात्। तथा हि न तावदनेन वाक्येन फलं प्रति यागविधानम्, तं प्रति च गुणविधानं युज्यते, वाक्यभेदापत्तेः। उद्भिच्छब्दस्य गुणसमर्पकत्वे च यागस्याप्यप्राप्तत्वात् गुणविशिष्टकर्मविधानं वाच्यम्। 'उद्भिद्वता यागेन पशुं भावयेदि'ति विशिष्टविधौ च मत्वर्थलक्षणेत्युक्तमेव।

'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यहां पर मत्वर्थ लक्षणाके भयसे उद्भिद् शब्द यागका नाम है क्योंकि 'उद्भिदा यजेत' इस वाक्यसे पशुरूप फलको उद्देश्य करके यागका विधान और 'उद्भिद्यते भूमिः अनेन' इस विग्रह द्वारा यागको उद्देश्यकर खनित्र (कुदारी) का विधान नहीं कर सकते हैं क्योंकि दो विधेय होनेसे वाक्यभेद हो जायगा। यहां पर शंका उठती है कि 'दध्ना जुहोति' इस वाक्यसे जैसे गुणमात्रका विधान होता है उसी तरह खनित्ररूप गुणमात्रका ही विधान करना चाहिये। और जैसे 'गोदोहनेन पशुकामस्य' यहां पर गोदोहनरूप गुणका फल पशु है उसी तरहसे 'खनित्ररूप गुणका फल पशु होगा' इस तरहसे 'उद्भिदा यजेत' यह गुण विधि ही होगी। इसका समाधान करते हैं—'पशुकामः' और 'यजेत' इन दोनों पदोंका अर्थ यह होता है कि यागसे पशु रूप फलकी भावना करे। इसके बाद 'किस यागसे'? ऐसी आकांक्षा होने पर 'उद्भिदा' इस तृतीयान्त पदका यागनामधेयत्वसे अन्वय होता है। 'उद्भिद्यते प्राप्यते पशुफलमनेन यागेन' इस विग्रहसे भी यागका नाम उद्भिद् होता है। तथा हि उद्भिदा और यागेन इन दोनोंका अभेदान्वय ही नामधेयका निश्चय करता है। खनित्ररूप गुण विधान करने पर 'खनित्रसे साध्य किये जानेवाले यागसे पशुकी भावना करे' इस तरह अर्थ होने पर वैयधिकरण्येन (भेदसम्बन्धेन) अन्वय करना होगा। लेकिन अभेद सम्बन्धसे अन्वयका सम्भव हो तो भेद (खनित्रसाध्यत्व) सम्बन्धसे अन्वय अनुचित है। और उद्भिद् शब्द

का खनित्र रूप गुण अर्थ करने पर जिस यागमें वह गुण होगा वह याग भी प्रमाणान्तरसे अप्राप्त है अतः उसी वाक्यसे यागका भी विधान करके खनित्र रूप गुण विशिष्ट यागका विधान होगा। यह विशिष्ट विधान मत्वर्थ लक्षणाके बिना नहीं हो सकता है। अतः मत्वर्थ लक्षणामें गौरव होगा। मत्वर्थ लक्षणा नहीं माननेसे वाक्यभेद होगा। यह विषय विध्यर्थ निरूपणमें 'सोमेन यजेत' यहां पर कह आये हैं अतः उद्भिद् शब्दका याग नाम ही मानना सर्वथा उचित है।

नामधेयत्वस्य वाक्यभेदप्रसङ्गरूपद्वितीयनिमित्तोदाहरणम्।

'चित्रया यजेत पशुकाम' इत्यत्र चित्राशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं वाक्यभेदभयात्। तथा हि न तावदत्र गुणविशिष्टयागविधानं संभवति। 'दधि मधु पयो घृतं धाना उदकं तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यमि'त्यनेन गुणस्य विहितत्वात्तद्विशिष्टयागविध्यनुपपत्तेः। यागस्य फलसंबन्धे गुणसंबन्धे च विधीयमाने वाक्यभेदः। तस्माच्चित्राशब्दः कर्मनामधेयम्। तथा च 'चित्रायागेन पशुं भावयेदि'ति सामानाधिकरण्येनान्वयान्न वाक्यभेदः।

"चित्रया यजेत पशुकामः", यहां पर वाक्यभेदके भयसे चित्रा शब्द यागका नाम होता है। जैसे 'चित्रया यजेत' यहां चित्रवर्ण रूप गुण विशिष्ट यागका विधान नहीं होता है क्योंकि 'दधि मधु पयो घृतं' इत्यादिसे गुण विहित है अतः गुण विशिष्ट यागका विधान नहीं हो सकता है। 'दधि मधु' इत्यादिका अर्थ है कि दधि मधु दूध घृत धान जल और चावल इन द्रव्योंसे युक्त (तत्संसृष्ट) प्रजापतिदेवताक याग होता है अतः दध्यादि गुणका स्पष्टतः विधान है। यदि यागमें पशुरूप फलके सम्बन्धका और चित्रवर्ण रूप गुणके सम्बन्धका विधान करेंगे तो वाक्यभेद हो जायगा। अतः चित्राशब्द याग विशेषका नाम है। तब 'चित्रायागसे पशु की भावना करे' यहां पर चित्रा और यागका सामानाधिकरण्य (अभेद) से अन्वय होता है अतः वाक्यभेद नहीं है।

प्रकृतेष्टेरनेकद्रव्यत्वेन चित्राशब्दवाच्यत्वोपपत्तिः।

प्रकृतेष्टि=प्रकृतयाग अर्थात् चित्रायाग दध्यादि अनेक द्रव्योंसे होता है। अतः चित्रा शब्दार्थ की भी उपपत्ति होती है। यहां पर यह शंका उठती है कि चित्रा शब्दसे चित्रत्व और स्त्रीत्वका ज्ञान होता है। स्त्रीत्व प्राणीका धर्म है अतः दध्यादि कर्मक यागमें उसका विशेषण नहीं हो सकता। इसलिये 'चित्रया यजेत' इस वाक्यमें यजेत पदसे 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' एतद्विहित अग्नीषो-

मीयपशु यागका अनुवाद कर उसमें चित्रत्व और स्त्रीत्वका विधान हो सकता है तब चित्राशब्द याग विशेषका नाम कैसे होगा। इसका उत्तर करते हैं कि प्राप्तकर्ममें अनेक गुणोंका विधान होनेसे वाक्यभेद हो जाता है अतः अग्नीषोमीय पशु यागमें चित्रत्व और स्त्रीत्व गुणोंका विधान होनेसे वाक्यभेद दुर्वार होगा। अभियुक्तोंका कथन भी है 'प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः। अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः।' अतः चित्राशब्द यागविशेषका ही नाम है।

तत्प्रख्यशास्त्रान्नामधेयत्वम्।

'अग्निहोत्रं जुहोती' त्यत्राग्निहोत्रशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तत्प्रख्यशास्त्रात्। तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्, अग्निहोत्रशब्दः कर्मनामधेयमिति यावत्।

'अग्निहोत्रं जुहोति' तत्प्रख्य शास्त्रसे अग्निहोत्र शब्द याग विशेषका नाम है। तत्प्रख्य शास्त्रका अर्थ करते हैं कि (तस्य) गुणका (प्रख्यापक) प्रापक अर्थात् प्राप्ति करानेवाला शास्त्र अर्थ है अतः अग्निहोत्र शब्द कर्मनामधेय है।

नन्वयं गुणविधिरेव कुतो नेति चेन्न। यद्यग्नौ होत्रमस्मिन्निति सप्तमीसमासमाश्रित्य होमाधारत्वेनाग्निरूपो गुणो विधेयस्तदा 'यदाहवनीये जुहोती'त्यनेनैवाग्नेः प्राप्तत्वात्तद्विधानानर्थक्यम्। अग्नये होत्रमिति चतुर्थीसमासमाश्रित्य अग्निदेवतारूपगुणोऽनेन विधीयत इति चेन्न। तद्देवतायाः शास्त्रान्तरेण प्राप्तत्वात्।

यहां शंका उठती है कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्यसे गुणका ही विधान है नामधेय नहीं है। इसका उत्तर देते हैं कि अग्निहोत्र शब्दमें 'अग्नौ होत्रं अस्मिन्' इस विग्रहसे यदि सप्तमी समास मानकर यागका आधार अग्नि है। अतः अग्नि रूप गुणका विधान करेंगे तो 'यदाहवनीये जुहोति' इसीसे अग्नि रूपाधिकरण प्राप्त है पुनः उसका विधान करना व्यर्थ होगा। 'अग्नये होत्रम्' ऐसे चतुर्थी समास मानकर अग्निरूप देवताका भी विधान नहीं कर सकते क्योंकि— अग्निरूप देवता शास्त्रान्तरसे ही प्राप्त है अतः अग्निहोत्र नामधेय है।

देवतारूपेणाग्निप्रापक शास्त्रप्रश्नः।

किं तच्छास्त्रान्तरमिति चेत्। 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोती'ति केचित्। अपरे तु 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहे'ति मन्त्रवर्ण एवा-

...रूपदेवताप्रापकः।

यहां पर यह प्रश्न होता है कि अग्निरूप देवता का प्रापक कौन शास्त्र है? इसका उत्तर कोई देते हैं कि 'यदग्नये च' इत्यादि अग्नि देवता का प्रापक शास्त्रान्तर है। यहां पर केचित् पद से यह अस्वरस सूचित होता है कि 'अग्निर्ज्योतिरि'त्यादि मंत्र वर्ण से प्राप्त अग्नि का अनुवाद कर 'यदग्नये चे'त्यादि मंत्र से केवल अग्नि समुचित प्रजापतिमात्रका ही लाघव से विधान किया जाता है अतः 'यदग्नये च' इत्यादि शास्त्र अग्निदेवता प्रापक नहीं हो सकता है। अतः सिद्धान्त उत्तर 'अपरे तु' इत्यादि ग्रन्थ से देते हैं। (अपरे तु) सिद्धान्तवेत्ता कहते हैं कि 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' यह मन्त्र वर्ण ही अग्नि रूप देवताका प्रापक है।

नन्वग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे प्रजापतिर्देवतया बाधः स्यात्। मन्त्रवर्णस्य चतुर्थीतो दुर्बलत्वात्। यथाहुः—'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः। देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परं परमि'ति चेन्न। 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोती' त्यत्र न केवलं प्रजापतिविधानम्, किन्तु मन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतेः। एवं च न बाधः, केवलप्रजापतिविधानाभावात्। न चात्र समुच्चितोभयविधानमेव कथं नेति वाच्यम्। समुच्चितोभयविधानापेक्षयान्यतः प्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतिमात्रविधाने लाघवात्।

यहां पर यह शंका उठती है कि मंत्रवर्णसे यदि अग्निकी प्राप्ति मानेंगे तो प्रजापतिसे बाध होगा क्योंकि 'प्रजापतये' यहां पर चतुर्थीसे देवताकी उपस्थिति हैं और मंत्र वर्णमें देवता वाचक कोई पद नहीं है। अतः मंत्रवर्ण दुर्बल है। यद्यपि सम्प्रदानमें चतुर्थी होती है अतः चतुर्थीसे देवताका स्मरण नहीं हो सकता है तथापि इज्यमान द्रव्यका उद्देश्य और ग्रहण करनेवाला ही सम्प्रदान होता है और इज्यमान द्रव्यका उद्देश्य देवता है इसलिये सम्प्रदानके अन्दर देवताका प्रवेश हो गया है अतः सम्प्रदानसे देवताका स्मरणमें कोई बाधक नहीं हैं। अतः मंत्रवर्ण चतुर्थीसे दुर्बल है। अभियुक्तोंका कथन भी है कि 'तद्धित, चतुर्थी और मंत्रवर्णसे देवताका विधान होता है उनमें उत्तरोत्तर दुर्बल है अर्थात् तद्धितसे चतुर्थी और चतुर्थीसे मंत्रवर्ण दुर्बल है। तब अग्निदेवता प्रापक मंत्रवर्ण कैसे होगा। इसका समाधान इस तरह करते हैं कि 'यदग्नये च प्रजापतये' इत्यादिसे केवल प्रजापतिका विधान नहीं है किन्तु मन्त्रवर्णसे प्राप्त अग्निक

अनुवाद कर अग्नि समुच्चित प्रजापतिका विधान है अतः विना मंत्रवर्णके 'यदग्नये च' इत्यादिसे विधान नहीं हो सकता। अतः प्रजापतिसे मंत्रवर्णका बाध नहीं होगा क्योंकि उपजीव्यविरोध लगेगा। 'यदग्नये च' इसीसे अग्निविशिष्ट प्रजापति अर्थात् अग्नि और प्रजापति दोनोंका विधान नहीं हो सकता। क्योंकि समुच्चित दोनोंके विधानकी अपेक्षा दूसरोंसे प्राप्त अग्निका अनुवादकर अग्नि समुच्चित प्रजापति मात्रके विधानमें लाघव है।

एवं प्रयाजेषु समिदादिदेवतानां 'समिधः समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्त्वि'त्यादिमन्त्रवर्णेभ्यः प्राप्तत्वात्। 'समिधो यजती'त्यादिषु समिदादिशब्दास्तत्प्रख्यशास्त्रात्कर्मनामधेयम्।

इसी तरह प्रयाजमें समिदादि देवताओंकी प्राप्ति 'समिधः समिधो अग्न' इत्यादिमंत्रवर्णसे होती है। अतः 'समिधो यजति' इत्यादिमें समिध प्रभृति शब्द यागका नाम है।

तद्व्यपदेशेन कर्मनामधेयत्वम्।

'श्येनेनाभिचरन्यजेते'त्यत्र श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तद्व्यपदेशात्। तेन व्यपदेशादुपमानात्तदन्यथानुपपत्तेरिति यावत्। तथा हि यद्विधेयं तस्य स्तुतिर्भवति। यद्यत्र श्येनो विधेयः स्यात्, तदार्थवादैस्तस्यैव स्तुतिः कार्या। अत्र 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्त' इत्यनेनार्थवादेन श्येनः स्तोतुं न शक्यः, श्येनोपमानेनार्थान्तरस्तुतेः क्रियमाणत्वात्।

'श्येनेनाभिचरन् यजेत', यहां पर श्येन शब्द यागका नाम है। इस वाक्यसे सोमयागमें सोमरूप द्रव्यको बाधकर सोमके स्थानमें श्येन पक्षिरूप गुणका विधान नहीं होता क्योंकि तद्व्यपदेश (कथन) रूप हेतुसे श्येन नामक यागका ही विधान होता है। तद्व्यपदेश शब्दका अर्थ करते हैं कि (तेन) श्येनसे (व्यपदेशात्) उपमानसे अर्थात् श्येनकी उपमासे अर्थवाद वाक्य द्वारा विधेय याग विशेषकी स्तुति होती है क्योंकि उपमान और उपमेयमें भेद अवश्य रहता है। यदि श्येनपक्षिरूप गुणका विधान हो तो अर्थवाद वाक्यसे श्येनपक्षी की उपमासे श्येनपक्षीकी ही स्तुति असंगत होगी। यही विषय अर्थवादवचन प्रदर्शन द्वारा ग्रन्थकार बतलाते हैं—'तथाहि—' इत्यादि। जैसे श्येन (बाज) मत्स्यादि जन्तुका नाश करता है उसी तरह श्येन यागसे शत्रुका नाश होता है। इस अर्थ-

वाद वाक्यसे श्येनपक्षीकी स्तुति नहीं कर सकते क्योंकि श्येनकी उपमासे दूसरोंकी स्तुतिकी जाती है।

न च श्येनोपमानत्वेन स एव स्तोतुं शक्यते, उपमानोपमेयभावस्य भिन्ननिष्ठत्वात्। यदा तु श्येनसंज्ञको यागो विधीयते तदार्थवादेन श्येनोपमानेन तस्य स्तुतिः कर्तुं शक्यत इति श्येनशब्दः कर्मनामधेयं तद्व्यपदेशादिति।

श्येनकी उपमासे श्येनकी ही स्तुति नहीं कर सकते क्योंकि उपमान और उपमेयमें भेद रहता है अतः स्वका उपमेय स्व नहीं होगा। जब श्येन नामक यागका विधान होता है तब श्येनपक्षीकी उपमासे श्येन यागकी स्तुति कर सकते हैं अतः तद्व्यपदेशसे श्येन यागका नाम है।

कर्मनामधेयत्वे उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वम्।

उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वमपि पञ्चमं नामधेयनिमित्तमिति केचित्। यथा 'वैश्वदेवेन यजेते' त्यादौ। अत्रोत्पत्तिशिष्टाग्न्यादीनां बलीयस्त्वाद्वैश्वदेवशब्दस्य विश्वदेवदेवताभिधायकत्वं न संभवतीति कर्मनामधेयत्वम्।

किसीका मत है कि उत्पत्तिशिष्ट-गुणबलीयस्त्व (उत्पत्ति विधिसे बोधित गुण प्रबल होता है) भी कर्मनामधेयमें पांचवां निमित्त है। जैसे 'वैश्वदेवेन यजेत' त्यादि यहांपर वैश्वदेव देवता वाचक नहीं है क्योंकि उत्पत्ति विधिसे प्राप्त अग्न्यादि देव प्रबल है इसलिये वैश्वदेव यागका नाम है। यहां पर यह समझना चाहिए कि चातुर्मास्यमें चार पर्व हैं—वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय। उनमें वैश्वदेव पर्वमें आठ याग हैं 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति सौम्यं चरुं सावित्रं द्वादशकपालं सारस्वतं चरुं पौष्णं मारुतं सप्तकपालम् वैश्वदेवीमामिक्षां द्यावापृथिव्यमेककपालम्।' इन आठों यागोंके समीपमें (वैश्वदेवेन यजेत') यह वाक्य पठित है। यहां पर संशय होता है कि वैश्वदेव शब्द यागका नाम है अथवा देवता वाचक है। तब पूर्वपक्ष होता है कि आठों यागोंका 'यजेत' पदसे अनुवाद करके विश्वदेव देवता रूप गुणका विधान है। यद्यपि वैश्वदेवी आमिक्षामें विश्वदेव देवता प्राप्त है तथापि आग्नेयादि सात यागोंमें विश्वदेव अप्राप्त है अतः उसका विधान किया जाता है यद्यपि आग्नेयादि सात यागोंमें अग्न्यादि देवताओंका श्रवण है तथापि अगत्या उन सातों यागोंमें विकल्पसे विश्वदेव देवताका विधान हो सकता है क्योंकि वैश्वदेव यागका नाम होगा तो द्रव्य और देवताका श्रवण नहीं

रहनेके कारण द्रव्य और देवता स्वरूप यागका स्वरूप ही नहीं बनेगा अतः 'वैश्वदेवेन यजेत' यह विधि व्यर्थ हो जायगी। अतः गुणका ही विधान है। तत्र सिद्धान्त करते हैं कि उत्पत्ति वाक्यसे विहित आग्नेयादि आठों यागोंका 'यजेत' पदसे अनुवादकर उन आठोंके समुदायका वैश्वदेव नाम विधान किया जाता है। द्रव्य देवताका श्रवण न रहनेसे यद्यपि यह विधि शास्त्र नहीं है, तथापि 'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत' इत्यादिमें एकही वैश्वदेव शब्दसे आठों यागोंका व्यवहार होता है अतः 'वैश्वदेवेन यजेत' यह शास्त्र व्यर्थ नहीं है। इन आठों यागोंका नाम वैश्वदेव है। इसमें दो कारण हैं जैसे छत्री (राजा) और अच्छत्री समुदायमें 'छत्रिणो यान्ति' प्रयोग होता है उसी तरह आमिक्षा यागमें समस्त (विश्वदेवोंके याग होनेके कारण आठोंमें वैश्वदेवत्वका व्यवहार होगा। अथवा आठोंका कर्त्ता विश्वदेव है अतः आठों यागोंमें वैश्वदेवत्व रहेगा। ब्राह्मण भागका प्रमाण भी है 'यद्विश्वे देवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्'। देवताओंका विकल्प जो पूर्वपक्षमें किया है वह नहीं हो सकता है क्योंकि समान बल होनेसे ही विकल्प होता है। यहां पर अग्न्यादि, उत्पत्ति शिष्ट होनेसे प्रवल है और विश्वदेव उत्पन्नशिष्ट होनेसे दुर्बल है प्रवल और दुर्बलमें प्रबल ही बाधक होता है। अतः अग्न्यादि ही देव हैं और वैश्वदेव इन आठोंका नाम है यह सिद्ध हुआ।

वस्तुतस्तु तत्प्रख्यशास्त्रादेवास्य कर्मनामधेयत्वं प्रकृतयागे विश्वदेवरूपगुणसंप्रतिपन्नशास्त्रस्यार्थवादरूपस्यैव सत्त्वात्। 'यद्विश्वेदेवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्' इति।

अव सिद्धान्त समाधान 'वस्तुतस्तु' से कहते हैं कि 'वैश्वदेव शब्द तत्प्रख्य शास्त्रसे ही यागका नाम है इन आठों वैश्वदेव नामक यागमें 'यद्विश्वेदेवाः समयजन्त' यह अर्थवाद ही विश्वदेव गुणका प्रापक है।

अथ निषेधमीमांसा।

पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः, निषेधवाक्यानामनर्थहेतुक्रियानिवृत्तिजनकत्वेनैवार्थवत्त्वात्। तथा हि यथा विधिः प्रवर्तनां प्रतिपादयन्स्वप्रवर्तकत्वनिर्वाहार्थं विधेयस्य यागादेरिष्टसाधनत्वमाक्षिपन्पुरुषं तत्र प्रवर्तयति, तथा 'न कलञ्जं भक्षये'दित्यादिनिषेधोऽपि निवर्तनां प्रतिपादयन्स्वनिवर्तकत्वनिर्वाहार्थं निषेध्यस्य कलञ्जभक्षणस्य परानिष्टसाधनत्वमाक्षिपन्पुरुषं ततो निवर्तयति।

अब निषेध वाक्योंका प्रयोजन बतलानेके लिए पहले निषेध वाक्यका लक्षण करते हैं—पुरुषोंके निवर्त्तक वाक्यको निषेध वाक्य कहते हैं अनर्थ (नरकादि) का कारण जो कलञ्ज-भक्षणादि क्रिया है उस कलञ्ज-भक्षणादि क्रियाकी निवृत्ति करनेवाला 'न कलञ्जं भक्षयेत्' यह वाक्य है यही (अर्थात् कलञ्ज-भक्षणादिसे पुरुषोंको निवृत्त करना) प्रयोजन 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इस निषेध वाक्यका है। दृष्टान्त द्वारा उसीकी सिद्धि करते हैं जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधि वाक्य प्रवर्तना (विधि) को बतलाता हुआ अपनेमें प्रवर्तकत्व (प्रवृत्तिजनकत्व) का निर्वाहके लिए विधेयार्थ यागमें इष्ट (स्वर्गादि) साधनत्वका निश्चय करता हुआ पुरुषोंको यागमें प्रवृत्ति कराता है। उसी तरह 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि निषेध वाक्य भी निवर्त्तना (निषेध) को बतलाता हुआ अपनेमें निवर्त्तकत्व (निवृत्तिजनकत्व) का निर्वाहके लिये निषेध्य कलञ्ज-भक्षणमें (परानिष्ट) नरकादिसाधनत्वका निश्चय करता हुआ कलञ्जादि-भक्षणसे निवृत्ति कराता है। विषाक्त बाणसे मारे गये पशुओंके मांसको कलञ्ज कहते हैं।

लिङर्थशब्दभावनाया नञर्थेनान्वयः।

ननु निषेधवाक्यस्य कथं निवर्तनाप्रतिपादकत्वमिति चेदुच्यते। न तावदत्र धात्वर्थस्य नञर्थेनान्वयः, अव्यवधानेऽपि तस्य प्रत्ययार्थभावनोपसर्जनत्वेनोपस्थितेः। न ह्यन्योपसर्जनत्वेनोपस्थितमन्यत्रान्वेति। अन्यथा राजपुरुषमानयेत्यादावपि राज्ञः क्रियान्वयापत्तेः। अतः प्रत्ययार्थस्यैव नञर्थेनान्वयः। तत्रापि नाख्यातत्वांशवाच्यार्थभावनायाः। तस्या लिङंशवाच्यप्रवर्तनोपसर्जनत्वेनोपस्थितेः, किन्तु लिङंशवाच्यशब्दभावनायाः, तस्याः सर्वापेक्षया प्रधानत्वात्।

यहां पर यह प्रश्न उठता है कि 'निषेध वाक्योंका अर्थ निवर्तना (निवृत्ति) नहीं हो सकता है क्योंकि नञर्थ—अभावका अन्वय धात्वर्थके साथ होगा। तब जैसे 'यजेत' यहांपर यागकर्तव्यता वाक्यार्थ होता है उसी तरह 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि स्थलमें भी कलञ्जकर्मक भक्षणाभावकर्तव्यता ही वाक्यार्थ होगा। इसका समाधान करते हैं कि धात्वर्थका नञर्थ—अभावके साथ अन्वय नहीं कर सकते हैं क्योंकि अव्यवधानसे धात्वर्थकी उपस्थिति होनेपर भी धात्वर्थकी प्रत्ययार्थ भावनामें (उपसर्जनत्वेन) विशेषण रूपसे उपस्थिति होती है। एकमें जो विशेषण रहता है वह फिर दूसरे पदार्थोंमें विशेषण नहीं होता यह नियम है, ऐसा नियम

नहीं माननेसे 'राजपुरुषमानय' यहांपर आनयन क्रियामें राजाका अन्वय होने लगेगा। इसलिए प्रत्ययार्थका ही नञर्थ अभावमें अन्वय होगा। प्रत्ययार्थमें भी आख्यातार्थ आर्थी भावनाका अन्वय नहीं होगा क्योंकि आर्थीभावना लिङ् अर्थ (वाच्य) शाब्दीभावनामें विशेषण है अतः सर्वापेक्षया प्रधान जो लिङर्थ शाब्दी भावना है उसीका नञर्थके साथ अन्वय होगा।

नञ्स्वभावकथनम्।

नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसमभिव्याहृतपदार्थविरोधिबोधकत्वम। यथा 'घटो नास्ती'त्यादौ अस्तीतिशब्दसमभिव्याहृतो नञ् घटसत्त्वविरोधि घटासत्त्वं गमयति, तदिह लिङ्समभिव्याहृतो नञ् लिङर्थप्रवर्तनाविरोधिनीं निवर्तनामेव बोधयति। विधिवाक्यश्रवणेऽयं मां प्रवर्तयतीति प्रतीतेः। तस्मान्निषेधवाक्यस्थले निवर्तनैव वाक्यार्थः। यदा तु प्रत्ययार्थस्य तत्रान्वये बाधकं तदा धात्वर्थस्यैव तत्रान्वयः।

नञ्का यह स्वभाव है कि स्व (नञ्) समभिव्याहृत (पासमें वर्तमान) पदार्थका विरोधी जो है उसका बोधक होता है। जैसे 'घटो नास्ति' यहां पर अस्ति शब्दका समभिव्याहृत नञ् घटसत्त्वके विरोधी घटसत्ताभावका बोधक होता है उसी तरह लिङ्-समभिव्याहृत नञ् लिङर्थप्रवर्तनाके विरोधी अर्थात् निवर्तनाका बोधक होगा। क्योंकि जैसे विधि वाक्यके श्रवण होनेसे यह विधि मुझे यागादिमें प्रवृत्ति कराती है ऐसी प्रतीति होती है उसी तरह निषेध-वाक्य श्रवण होनेपर यह निषेध-वाक्य कलञ्ज-भक्षणसे मुझे निवृत्ति कराता है ऐसी प्रतीति होती है। इसलिये निषेध-वाक्य-स्थलमें निवर्तना ही वाक्यार्थ है। इस तरह निषेध-वाक्यस्थल में निवर्तनाको वाक्यार्थ माननेसे विधि और निषेधका भिन्नार्थत्व होता है। भक्षणाभावकर्तव्यताको वाक्यार्थ माननेसे विधि और निषेध दोनों जगह कर्तव्यता ही वाक्यार्थ होगा तो दोनोंमें समानार्थत्व हो जायगा। और समानार्थत्व अनुचित है। कहा भी है कि 'अन्तरं यादृशं लोके ब्रह्महत्याश्वमेधयोः। दृश्यते तादृगेवेह विधानप्रतिषेधयोः' यदि नञर्थ अभावके साथ प्रत्ययार्थका अन्वयमें बाधक हो तो धात्वर्थका ही अन्वय होता है।

बाधकं द्विविधम्।

तच्च बाधकं द्विविधम्—तस्य प्रतिषेधुपक्रमो विकल्पप्रसक्तिश्च। तत्राद्यं

'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यादौ। तस्य व्रतमित्युपक्रम्यैतद्वाक्यपाठात्। तथा चात्र पर्युदासाश्रयणम्।

नञर्थ अभावके साथ प्रत्ययार्थका अन्वय होनेमें दो बाधक हैं 'तस्य व्रतम्' यह (उपक्रम) प्रकरण और विकल्पप्राप्ति। उनमें 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' यह प्रथमका उदाहरण है (तस्य) स्नातक विशेष ब्रह्मचारीका (व्रतम्) प्रजापति-देवताक आदित्यानीक्षणसंकल्पादि जो अनुष्ठेय नियम है उस प्रकरणमें 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन' इसका पाठ है यहां नञर्थ पर्य्युदास मानना होगा अर्थात् यहां नञर्थमें धात्वर्थका ही अन्वय होगा प्रत्ययार्थका नहीं।

तथा हि—व्रतशब्दस्य कर्तव्यार्थे रूढत्वात्तस्य व्रतमित्यत्र स्नातकस्य व्रतानां कर्तव्यत्वेनोपक्रमात्। किं तत्कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायां 'नेक्षेतोद्यन्त-मि'त्यादिना कर्तव्यार्थ एव प्रतिपादनीयः। अन्यथा पूर्वोत्तरवाक्ययोरेक-वाक्यत्वं न स्यात्।

यहां पर नञर्थमें प्रत्ययार्थका अन्वय नहीं होता है; क्योंकि कर्तव्य अर्थमें व्रत शब्दकी रूढि है अतः 'तस्य व्रतम्' इस वाक्यसे स्नातकके व्रतोंका कर्तव्यत्वेन उपादान है अर्थात् स्नातक ब्रह्मचारियोंका क्या कर्तव्य है ऐसी आकांक्षा होनेपर 'नेक्षेतोद्यन्तम्' इत्यादि वाक्य कर्तव्यार्थ ही कहा गया है। यदि 'नेक्षेत' इत्यादि कर्तव्यार्थ नहीं कहा जाय तो 'तस्य व्रतम्' और 'नेक्षेत' इन दोनोंकी एकवाक्यता नहीं होगी।

तथा च नञर्थेन न प्रत्ययार्थान्वयः कर्तव्यार्थानवबोधात्। विध्यर्थ-प्रवर्तनाविरोधिनिवर्तनाया एव तादृशनञा बोधनात्, तस्याश्च कर्तव्यार्थ-त्वाभावात्। तस्मान्नेक्षेतेत्यत्र नञा धात्वर्थविरोध्यनीक्षणसंकल्प एव लक्ष-णया प्रतिपाद्यते तस्य कर्तव्यत्वसंभवात्।

'नेक्षेत' इससे कर्तव्यार्थको ही प्रतिपादित होनेके कारण नञर्थाभावके साथ प्रत्ययार्थका अन्वय नहीं होता क्योंकि प्रत्ययार्थके अन्वयसे कर्तव्यार्थका बोध नहीं होकर विध्यर्थ प्रवर्तनाके विरोधी निवर्तनाका ही बोध होगा और निवर्तनाका कर्तव्य अर्थ नहीं होता। किन्तु निवृत्ति अर्थ होता है। इसलिये 'नेक्षेत' यहां पर नञ्से धात्वर्थका विरोधी अनीक्षण संकल्पका लक्षणाद्वारा प्रतिपादन होता है और अनीक्षण संकल्पका कर्तव्यार्थत्व संभव है।

पर्युदासपक्षे नेक्षेतेत्यस्य वाक्यार्थः ।

आदित्यविषयकानीक्षणसंकल्पेन भावयेदिति वाक्यार्थः । तत्र भाव्याकाङ्क्षायाम् 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवती'तिवाक्यशेषावगतः पापक्षयो भाव्यतयान्वेति । एवं च पूर्वोत्तरयोरेकवाक्यत्वं निर्वहत्येव । न चात्र धात्वर्थविरोधिनः पदार्थान्तरस्यापि संभवात्कथमनीक्षणसंकल्पस्यैव भावनान्वय इति वाच्यम् । तस्य कर्तव्यताऽभावेन प्रकृते भावनान्वयायोग्यत्वात् ।

'सूर्यविषयकदर्शनाभाव–(अनीक्षण) संकल्पसे भावना करे' यहां पर किसकी भावना करे ऐसी आकांक्षा होने पर 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवति' इस वाक्य शेषसे ज्ञातपापक्षयरूप फलका ही (भाव्यतया) साध्यतया अन्वय होगा । इस तरहसे पूर्वोत्तर वाक्योंमें एकवाक्यताभी होगी । फलितार्थ यह हुआ कि स्नातक ब्रह्मचारी 'उदय और अस्त समयमें सूर्यका दर्शन नहीं करूंगा' इस तरहके संकल्प से पापका नाश करे । यहां पर यह शंका होती है कि धात्वर्थका नञर्थमें अन्वय करने पर भी धात्वर्थदर्शनका विरोधी दर्शनाभावविषयक संकल्प ही नहीं है अपितु कपड़ा प्रभृतिसे नयनपिधान भी विरोधी है अतः अनीक्षण संकल्पहीका अन्वय भावनामें कैसे होगा ? उसका समाधान करते हैं कि कपड़ाप्रभृतिसे नयनपिधानका दर्शनविरोधी होने पर भी अयोग्य होनेके कारण भावनामें अन्वय नहीं होगा क्योंकि कर्तव्यत्वेन विवक्षित पदार्थ की ही भावनान्वययोग्यता होती है । कपड़ा प्रभृतिसे नयनपिधान कर्तव्यत्वेन विवक्षित नहीं है अतः उसमें योग्यता भी नहीं है ।

विकल्पप्रसक्तौ पर्युदासाश्रयणम् ।

द्वितीयं 'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेष्वि'त्यादौ । अत्र विकल्पप्रसक्तौ च पर्युदासाश्रयणात् ।

तथा हि–यद्यत्र वाक्ये नञर्थे प्रत्ययार्थान्वयः स्यात्तदा अनुयाजेषु 'येयजामह' इति मन्त्रस्य प्रतिषेधः स्यात्, अनुयाजेषु येयजामहं न कुर्यादिति । स च प्राप्तिपूर्वक एव, प्राप्तस्यैव प्रतिषेधात् । प्राप्तिश्च 'यजतिषु येयजामहं करोती'ति शास्त्रादेव वाच्या । शास्त्रप्राप्तस्य च प्रतिषेधे विकल्प एव, नतु बाधः । प्राप्तिमूलरागस्येव तन्मूलशास्त्रस्य शास्त्रान्तरेण बाधायोगात् ।

नञर्थके साथ प्रत्ययार्थका अन्वयमें विकल्पप्रसक्तिरूपबाधक 'यजतिषु येयजा-

यहं करोति नानुयाजेषु' इत्यादिस्थलमें है। यहां पर विकल्पापत्ति होने लगेगी अतः पर्युदासका आश्रयण करते हैं। जैसे इस (नानुयाजेषु) वाक्यमें नञर्थअभावके साथ प्रत्ययार्थका अन्वय होने पर यही अर्थ होगा कि अनुयाजमें 'येयजामहे' नहीं करे इससे 'येयजामह' इस मंत्रोच्चारणका निषेध सिद्ध होनेसे प्राप्तका ही निषेध होता है अतः प्राप्तिपूर्वक निषेध होगा और 'यजतिषु येयजामहं करोति' अर्थात् यागमें 'येयजामह' मन्त्रका उच्चारण करना चहिए इस शास्त्रसे ही येयजामह मन्त्रोच्चारणकी प्राप्ति करनी होगी। परन्तु शास्त्र प्राप्तका प्रतिषेध होने पर विकल्प होता है। बाध नहीं होता है इसका कारण स्वयं ग्रन्थकार आगे बतलायेंगे। जैसे रागसे कलञ्जादि भक्षणमें प्रवृत्त पुरुषोंको भक्षण प्राप्तिके कारण भूत रागका बाध करता हुआ 'न कलंजं भक्षयेत्' यह निषेधशास्त्र कलंजभक्षणसे लौटाता है वैसे 'येयजामह' इस मन्त्रप्राप्तिके कारणभूत 'यजतिषु येयजामहं' इस शास्त्रका 'नानुयाजेषु' इस शास्त्रान्तरसे बाध नहीं होता है।

न च 'पदे जुहोती'तिविशेषशास्त्रेण 'आहवनीये जुहोति'ति शास्त्रस्येव 'नानुयाजेष्वि'त्यनेन 'यजतिषु येयजामहं करोती'त्यस्य बाधः स्यादिति वाच्यम्। परस्परनिरपेक्षयोरेव शास्त्रयोर्बाध्यबाधकभावात्। पदशास्त्रस्य हि स्वार्थविधानार्थमाहवनीयशास्त्रानपेक्षणान्निरपेक्षत्वम्। प्रकृते तु निषेधशास्त्रस्य निषेध्यप्रसक्त्यर्थं 'यजतिषु येयजामह'मित्यस्यापेक्षणान्न निरपेक्षत्वम्।

यहां पर यह शंका उठती है कि जैसे 'पदे जुहोति' इस विशेष शास्त्रसे 'आहवनीये जुहोति' इस सामान्यशास्त्रका बाध होता है उसी तरह 'यजतिषु येयजामहं करोति' इस सामान्यशास्त्रका 'नानुयाजेषु' इस विशेष शास्त्रसे बाध होना चाहिये। उसका समाधन करते हैं कि—परस्पर निरपेक्ष शास्त्रोंमें बाध्यबाधकभाव होता है। 'पदे जुहोति' इस शास्त्रमें स्वार्थविधानके लिये 'आहवनीय शास्त्रकी अपेक्षा नहीं है। अतः पदशास्त्रसे आहवनीयशास्त्रका बाध होता है। प्रकृतमें तो निषेधशास्त्रको निषेध्य (जिसका निषेध करेगा) प्राप्तिके लिए 'यजतिषु येयजामहं करोति' इस शास्त्रकी अपेक्षा होती है अतः उपजीव्यविरोधके भयसे प्रकृतमें बाध्यबाधकभाव नहीं होगा।

बाधायोगोपसंहारः।

तस्माच्छास्त्रविहितस्य शास्त्रान्तरेण प्रतिषेधे विकल्प एव। स च न

युक्तः। विकल्पे शास्त्रस्य पाक्षिकाप्रामाण्यापातात्। न ह्यनुयाजेषु येयजामहमित्यस्यानुष्ठाने नानुयाजेष्वित्यस्य प्रामाण्यं संभवति. व्रीहियागानुष्ठाने यवशास्त्रस्येव। द्विरदृष्टकल्पना च स्यात्, विधिप्रतिषेधयोरपि पुरुषार्थत्वात्, अतो नात्र प्रतिषेधस्याश्रयणम्, किंतु नञोऽनुयाजसंबन्धमाश्रित्य पर्युदासस्यैव।

पूर्वोक्त युक्तिसे निषेध्यशास्त्रका निषेधकशास्त्रसे सर्वथा बाध असंभव है अतः शास्त्रान्तरसे प्रतिषेध होने पर विकल्प ही होगा। परन्तु विकल्प उचित नहीं है। क्योंकि विकल्प होनेसे शास्त्रमें एकपक्षमें अप्रामाण्यापत्ति होगी। अनुयाजमें 'येयजामहे' मन्त्रका उच्चारण (अनुष्ठान) करनेसे 'नानुयाजेषु' इस शास्त्रमें प्रामाण्य कथमपि नहीं हो सकता अर्थात् जैसे व्रीहिसे याग करने पर यवशास्त्रमें अप्रामाण्य होता है उसी तरह 'नानुयाजेषु' इस शास्त्रका भी अप्रामाण्य होगा। और जैसे दर्शपूर्णमास यागमें मिथ्या नहीं बोलनेसे अदृष्टकी उत्पत्ति होती है उसी तरह विकल्प मानने से 'यजतिषु येयजामहं' इस शास्त्रमें भी यह ज्ञान होगाकि अनुयाजमें येयजामह मन्त्रके अनुष्ठानसे कोई उपकाररूप अदृष्ट होता है। एवं 'नानुयाजेषु' इस शास्त्रसे मालूम होगाकि अनुयाजमें 'येयजामह' मन्त्रका अनुष्ठान नहीं करनेसे भी उपकाररूप कोई अदृष्ट होता है इस तरह दो अदृष्टों की कल्पना करनी होगी। इसलिये यहां पर प्रतिषेधका आश्रयण अर्थात् प्रत्ययार्थका नञर्थके साथ अन्वय नहीं है किन्तु नञर्थका अनुयाजके साथ सम्बन्ध मान कर पर्युदासका ही आश्रयण है।

इत्थं चानुयाजव्यतिरिक्तेषु 'यजतिषु येयजामहं' इति मन्त्रं कुर्यादिति वाक्यार्थबोधः नञोऽनुयाजव्यतिरिक्ते लाक्षणिकत्वात्। एवं च न विकल्पः। अत्र च वाक्ये येयजामहं इति न विधीयते, यजतिषु येयजामहमित्यनेनैव प्राप्तत्वात्। किंतु सामान्यशास्त्रप्राप्त–येयजामहं इत्यनुवादेन तस्यानुयाजव्यतिरिक्तविषयकत्वं विधीयते। यद्यजतिषु येयजामहं करोति तदनुयाजव्यतिरिक्तेष्विति।

तब नञको अनुयाजव्यतिरिक्त (भिन्न) में लक्षणा मानकर अनुयाज भिन्न में 'येयजामहे' इस मन्त्र का अनुष्ठान करना चाहिये ऐसा वाक्यार्थ बोध होगा। इस तरह करने पर विकल्प नहीं होता। 'नानुयाजेषु' इस वाक्यसे 'येयजामह' इस का विधान नहीं किया जाता है क्योंकि 'यजतिषु येयजामहे' इसीसे येयजामह

प्राप्त है। किन्तु सामान्य शास्त्र (यजतिषु येयजामहं)-से प्राप्त येयजामहका अनुवादकर 'येयजामह'-को अनुयाजव्यतिरिक्त विषयकत्वका विधान करता है। अर्थात् अनुयाज भिन्न यागमें 'येयजामह' मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये। ऐसे करनेसे कोई दोष नहीं होता है। अतः पर्य्युदास ही यहां उचित है।

पर्युदासोपसंहारयोर्भेदवर्णनम्।

नन्वेवं सामान्यशास्त्रप्राप्तस्य विशेषे संकोचनरूपादुपसंहारात्पर्युदासस्य भेदो न स्यादिति चेन्न। उपसंहारो हि तन्मात्रसंकोचार्थः। यथा पुरोडाशं चतुर्धा करोतीति सामान्यप्राप्तचतुर्धाकरणम् आग्नेयं चतुर्धा करोतीति विशेषादाग्नेयपुरोडाशमात्रे संकोच्यते। पर्युदासस्तु तदन्यमात्रसंकोचार्थं इति ततो भेदात्।

यहांपर प्रश्न होता है कि यदि पर्युदास स्थलमें भी सामान्य शास्त्रसे प्राप्तका विशेष में संकोच हो तो पर्य्युदास और उपसंहार में कोई भेद नहीं रहेगा क्योंकि सामान्य शास्त्रसे प्राप्तका विशेषमें संकोचको ही उपसंहार कहते हैं। इसका समाधान करते हैं कि सामान्यसे प्राप्तका विशेष मात्रमें संकोच करना ही उपसंहार होता है जैसे 'पुरोडाशं चतुर्धा करोति' इस सामान्य शास्त्र द्वारा प्राप्त पुरोडाशके चतुर्धाकरणसे 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' इस विशेष शास्त्रसे अग्निदेवताक पुरोडाशका ही चतुर्धाकरण होता है दूसरे पुरोडाशका नहीं। पर्य्युदास स्थलमें सामान्यसे प्राप्तका विशेष शास्त्रसे विशेष भिन्नमें संकोच होता है इसलिये दोनोंमें बहुत भेद है। नवीनोंका मत है कि सामान्यसे प्राप्तका विशेषमें संकोच रूप जो विधि शास्त्रका व्यापार है उसे उपसंहार कहते हैं परन्तु 'पर्य्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्' इस अभियुक्त वचनसे प्रत्ययातिरिक्त प्रातिपदिकार्थ अथवा धात्वर्थके साथ नञ्के सम्बन्धको पर्य्युदास कहते हैं। अतः पर्य्युदास और उपसंहारमें स्वरूपतः भेद स्पष्ट है।

कुत्रचिद्विकल्पप्रसक्तावप्यनन्यगत्या प्रतिषेधाश्रयणम्। यथा 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती'त्यादौ। अत्र हि 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती'ति शास्त्रप्राप्तषोडशिग्रहणस्य निषेधाद्विकल्पप्रसक्तावपि न पर्युदासाश्रयणम्, असंभवात्।

किसी स्थलमें विकल्प दोष होनेपर भी (अनन्यगत्या) पर्य्युदासका संभव नहीं होनेसे प्रतिषेधका ही आश्रयण होता है। जैसे 'अतिरात्रे षोडशि-

गृह्णाति' इस विशेष शास्त्रसे विकल्प होनेपर भी निषेधका ही ग्रहण होता है क्योंकि यहां पर्युदासका संभव नहीं है। नञर्थके दो भेद हैं—निषेध और पर्युदास। जहां प्रत्ययार्थके साथ अन्वय रहेगा वहां निषेध अर्थ जाना जाता है। और उत्तर पदार्थके साथ अन्वय रहनेपर पर्युदास अर्थ जाना जाता है।

तथा हि—यद्यत्र षोडशिपदार्थेन नञर्थान्वयस्तदातिरात्रे षोडशिव्यतिरिक्तं गृह्णातीति वाक्यार्थबोधः स्यात्, स च न संभवति, अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति प्रत्यक्षविधिविरोधात्। यदि चातिरात्रेण पदार्थेनान्वयस्तदातिरात्रव्यतिरिक्ते षोडशिनं गृह्णातीति वाक्यार्थबोधः स्यात्, सोऽपि न संभवति तद्विधिविरोधात्। अतोऽत्रानन्यगत्या शास्त्रप्राप्तषोडशिग्रहणस्यैव निषेधः। न च विकल्पप्रसक्तिस्तस्याप्यपेक्षणीयत्वात्।

'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' यहां पर्युदासका संभव नहीं है क्योंकि यदि 'नातिरात्रे' यहां पर षोडशि पदार्थके साथ नञर्थका अन्वय करेंगे तो 'अतिरात्र में षोडशिभिन्नका ग्रहण करे' यह वाक्यार्थ बोध होगा, परन्तु यह बोध संभव नहीं है क्योंकि 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इस प्रत्यक्ष विधिसे विरोध लगेगा। यदि अतिरात्र पदार्थके साथ नञर्थका अन्वय करेंगे तो 'अतिरात्रभिन्नमें षोडशि ग्रहण करे' यह वाक्यार्थ बोध होगा लेकिन ये सभी संभव नहीं हैं क्योंकि 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इसी प्रत्यक्ष विधिसे विरोध होगा। अतः यहांपर पर्युदासका आश्रयण असंभव है अतः सामान्यशास्त्र प्राप्त षोडशी ग्रहणका पाक्षिक प्रतिषेध होता है। इसलिए विकल्पापत्ति दोष नहीं दे सकते हैं क्योंकि विकल्प यहां इष्ट ही है।

विकल्पे प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वाभाववर्णनम्।

इयांस्तु विशेषो यद्विकल्पादेकप्रतिषेधेऽपि प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम्, विधिनिषेधोभयस्यापि क्रत्वर्थत्वात्। यत्र तु न विकल्पः, प्राप्तिश्च रागत एव, प्रतिषेधश्च पुरुषार्थः तत्र प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वम्, यथा 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादौ कलञ्जभक्षणादेः, तत्र भक्षणनिषेधस्यैव पुरुषार्थत्वात्।

यहां यह शंका होती है कि यदि 'नातिरात्रे' यहां विकल्प प्रसंग होनेपर भी षोडशि ग्रहणका प्रतिषेध करते हैं तो जैसे कलञ्ज भक्षण अनर्थका कारण है उसी तरह षोडशि ग्रहण भी अनर्थका कारण होगा। क्योंकि प्रतिषिध्यमान

अनर्थका कारण होता है। इसका समाधान करते हैं—यहां यही एक विशेषता है कि विकल्प होनेसे एकका प्रतिषेध होने पर भी प्रतिषिध्यमान षोडशि ग्रहण विहित होनेसे अनर्थका कारण नहीं होता है क्योंकि यहां विधि और निषेध दोनों ही क्रत्वर्थ हैं। जहां विकल्प विधायक कोई वचन नहीं है किन्तु विधि रागसे ही प्राप्त है और निषेध पुरुषार्थ है वहां पर प्रतिषिध्यमान पदार्थ अनर्थ का कारण होता है, जैसे 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादि स्थलमें कलञ्ज भक्षण रागतः प्राप्त है और भक्षणका निषेध पुरुषार्थ है। अतः कलञ्जभक्षण अनर्थका कारण होता है।

न च 'दीक्षितो न ददाति न जुहोती'त्यादौ शास्त्रप्राप्तदानहोमादीनां निषेधाद्विकल्पापत्तिरिति वाच्यम्। स्वतःपुरुषार्थभूतदानहोमादीनां निषेधस्य पुरुषार्थत्वाभावेऽपि निषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वात्, यथा क्रतौ स्वस्त्रीगमनादेः, तन्निषेधस्य क्रत्वर्थत्वेन तस्य क्रतुवैगुण्यसंपादकत्वात्।

यहां पर प्रश्न होता है कि 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इस स्थानमें यदि शास्त्र प्राप्त दान-होमादिका निषेध किया जाता है तो षोडशि ग्रहणके समान विकल्प होना चाहिये। इसका उत्तर कहते हैं कि 'षोडशि'ग्रहणकी विधि और प्रतिषेध दोनों ही क्रत्वर्थ हैं इसलिए विकल्प होता है। किन्तु दान-होमादि पुरुषार्थ है और उसका निषेध क्रत्वर्थ है इसलिए विकल्प नहीं होगा। जैसे क्रतुमें स्त्री गमनका निषेध होनेसे पुरुषार्थभूत स्वस्त्रीगमन क्रतुमें अनर्थका कारण होता है उसी तरह निषेध को पुरुषार्थ न होने पर भी निषिध्यमान दान-होम दीक्षितोंके लिए यज्ञमें अनर्थकारक है अर्थात् जैसे क्रतुमें स्वस्त्रीगमन, कलञ्ज-भक्षणादि के समान नरक साधन न होने पर भी क्रतुवैगुण्य सम्पादन द्वारा अनर्थ कारण होता है। वैसे ही दान-होमादि भी यज्ञमें अनर्थ साधन होता है। इसलिए निषेध वाक्य अनर्थ हेतु क्रिया की निवृत्ति द्वारा ही पुरुषार्थ साधक होते हैं।

अर्थवादमीमांसा।

प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः। तस्य च लक्षणया प्रयोजनवदर्थपर्यवसानम्। तथा हि—अर्थवादवाक्यं हि स्वार्थप्रतिपादने प्रयोजनाभावाद्विधेयनिषिध्ययोः प्राशस्त्यनिन्दितत्वे लक्षणया प्रतिपादयति। स्वार्थमात्रपरत्वे आनर्थक्यप्रसङ्गात्। आम्नायस्य हि क्रियार्थत्वात्। न चेष्टापत्तिः। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यध्ययनविधिना सकलवेदाध्ययनं कर्त...

मिति बोधयता सर्ववेदस्य प्रयोजनवदर्थपर्यवसायित्वं सूचयतोपात्तत्वेनानर्थक्यानुपपत्तेः।

प्राशस्त्य अथवा निन्दा—परक वाक्यको अर्थवाद कहते हैं। जहां पर 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा'—इत्यादि अर्थवाद वाक्य स्थलमें प्राशस्त्य अथवा निन्दा बोधक वाक्य नहीं है वहां पर भी लक्षणासे प्रयोजनवाला अर्थका बोधक होगा। क्योंकि अर्थवाद वाक्यका स्वार्थ प्रतिपादनमें कोई प्रयोजन नहीं रहता है। अतः विधि वाक्यको विधेयके प्राशस्त्यमें और निषेधको निषेध्यकी निन्दामें लक्षणा होती है। केवल स्वार्थमात्रका प्रतिपादन करनेसे व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि समस्त वेदोंको क्रियाका प्रतिपादक मानते हैं इसलिए सिद्धार्थका प्रतिपादन द्वारा स्वार्थमात्रपरक मानकर चरितार्थ करना उचित नहीं है। वैयर्थ्यकी इष्टापत्ति नहीं कर सकते हैं क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययन विधि सारे वेदोंके अध्ययनकर्तव्यको समझाती हुई सकल वेदोंको प्रयोजनवदर्थपरक कहती है इसलिए अनर्थक नहीं हो सकता है।

अर्थवादविभागः।

स द्विविधः—विधिशेषो निषेधशेषश्चेति। तत्र 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम' इत्यादिविधिशेषस्य 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवत'त्यादेर्विधेयार्थप्राशस्त्यबोधकतयार्थवत्त्वम्। 'बर्हिषि रजतं न देय'मित्यादिनिषेधशेषस्य, 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्व'मित्यादेर्निषेध्यस्य निन्दितत्वबोधकतयार्थवत्त्वम्। न च प्राशस्त्यादिबोधस्य निष्प्रयोजनत्वे, नार्थवादस्यार्थवत्त्वमिति वाच्यम्। आलस्यादिवशादप्रवर्तमानस्य पुंसः प्रवृत्त्यादिजनकत्वेन तद्बोधस्योपयोगात्।

अर्थवादके दो भेद हैं विधि शेष और निषेध शेष। उनमें 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इस विधिका शेष 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि मंत्र है। वह मंत्र विधेय भूत उक्त यज्ञादि कर्म रूप अर्थमें प्राशस्त्यका लक्षणासे बोधन द्वारा प्रवर्तक होनेसे सार्थक होता है। अर्थात् वायु (क्षेपिष्ठा) शीघ्र चलने वाले देवता हैं अतः वायु देवता निमित्तक कर्म अत्यन्त प्रशस्त है इस तरह बोध होनेसें श्रेष्ठजनों की उसमें प्रवृत्ति होती है। 'बर्हिषि रजतं न देयम्' इत्यादि निषेधका शेष (सोऽरोदीत्) इत्यादि है। यह लक्षणासे निषेध्य रजतादि की निन्दाका बोधन द्वारा सार्थक होता है। प्राशस्त्यादि बोधनका कोई प्रयोजन

नहीं दिखाई देता है अतः अर्थवाद वाक्यका भी कोई प्रयोजन नहीं है ऐसी शंका नहीं कर सकते हैं क्योंकि आलस्यादिसे जो व्यक्ति यागमें प्रवृत्ति नहीं होते हैं उनको कर्म प्राशस्त्य बोधन द्वारा यज्ञादिमें प्रवृत्त कराता है अतः अर्थवाद वाक्य सार्थक है।

अर्थवादस्य भेदत्रयम्।

स पुनस्त्रेधा। तदुक्तम्—'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः' इति। अस्यार्थः—प्रमाणान्तरविरोधे सत्यर्थवादो गुणवादः, यथा 'आदित्यो यूप' इत्यादिः। यूप आदित्याभेदस्य प्रत्यक्षबाधितत्वादादित्यवदुज्ज्वलत्वस्वरूपगुणोऽनेन लक्षणया प्रतिपाद्यते। प्रमाणान्तरावगतार्थबोधकोऽर्थवादोऽनुवादः, यथा 'अग्निर्हिमस्य भेषजमि'ति, अत्र हिमविरोधित्वस्याग्नौ प्रत्यक्षावगतत्वात्। प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोऽर्थवादो भूतार्थवादः, 'यथा इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छ'दित्यादिः।

अर्थवादके और तीन भेद हैं। गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। उन्हीं में प्रमाणभूत वृद्धका वचन बतलाते हैं—'विरोधे गुणवाद' इत्यादि। उनमें प्रत्येक का क्रमशः लक्षण करते हैं—प्रमाणान्तर से विरोध रहने पर जो अर्थवाद है उसे गुणवाद कहते हैं। जैसे 'आदित्यो यूपः' यहां पर यूप में आदित्य का अभेद प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है अतः इस वाक्यसे शुक्लरूप गुण लक्षणासे समझा जाता है अर्थात् उजला यूप। प्रमाणान्तरसे अवगत अर्थका बोधक जो अर्थवाद है उसे अनुवाद कहते हैं। जैसे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' यहां प्रत्यक्ष प्रमाण से 'हिमका औषध अग्नि है' ऐसा अवगत ही है अतः यह अनुवाद है। जहां पर प्रमाणान्तर विरोध रहित और प्रमाणान्तर प्राप्ति रहित अर्थका बोधक अर्थवाद हो उसे भूतार्थवाद कहते हैं जैसे—'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' यहां पर वृत्रके प्रति इन्द्रवज्रोद्यमनका निषेध अथवा वज्र उद्यमन किसीसे बाधित नहीं है अतः यह भूतार्थवाद है।

ग्रन्थोपसंहारः।

एवं च 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिनिखिलवेदस्य साक्षात्परम्परया वा यागादिधर्मप्रतिपादकत्वं सिद्धम्। सोऽयं धर्मो यदुद्दिश्य विहितस्तदुद्देशेन

क्रियमाणस्तद्धेतुः। ईश्वरार्पणबुद्धया क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः। न च तदर्पणबुद्धयनुष्ठाने प्रमाणाभावः 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणमि'ति भगवद्गीतास्मृतेरेव प्रमाणत्वात्। स्मृतिचरणे तत्प्रामाण्यस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनादिति शिवम्॥

बालानां सुखबोधाय भास्करेण सुमेधसा।
रचितोऽयं समासेन जैमिनीयार्थसंग्रहः॥ १॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायलौगाक्षिभास्करविरचितपूर्वमीमांसार्थ-संग्रहनामकं प्रकरणं समाप्तिमगात्॥

इस तरहसे 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि सब वेद कोई साक्षात् और कोई परम्परया यागादि रूप धर्मका प्रतिपादक है यह सिद्ध हुआ। यह यागादि रूप धर्म जिस उद्देश्यसे विहित है उस उद्देश्यसे करने पर वह फल अवश्य मिलता है। ईश्वरार्पण बुद्धिसे याग करने पर मोक्ष मिलता है। ईश्वरार्पण बुद्धिसे अनुष्ठान करनेमें कोई प्रमाण नहीं है यह नहीं कह सकते हैं क्योंकि 'यत्किरोषि' इत्यादि स्मृति ही प्रमाण है। स्मृति वेदमूलक है अतः स्मृति भी प्रमाण है।

श्री लौगाक्षिभास्करने बालकोंको अनायाससे बोध हो इसलिए संक्षेपमें यह मीमांसाका अर्थसंग्रह नामक ग्रन्थ बनाया॥ १॥

जयतु श्रीरामः

समाप्तश्चायं ग्रन्थः।

पारिभाषिक शब्दों के अर्थों का संकलन

अपूर्व—अदृष्ट (धर्मविशेष)
अङ्गापूर्व—धर्मविशेष
अपौरुषेय—धर्मविशेष
अर्थवाद्—प्रशंसापरकवाक्य (फलश्रुति)
अमूर्त्त—निराकार
अश्वाभिधानी—घोड़े की लगाम रस्सी
अभिक्रमण—भ्रमण
अवत्त—खण्डित
अभिषेचनीय—सोमयागविशेष
अवभृथ—यज्ञान्त दिनकृत्य विशेष
अग्नीषोमीय—यज्ञारम्भ दिनविहित पशुविशेष
अक्ष—पाशा (चौपड़)
अभिघारण—द्रवितघृतसेचन
अनुयाज—यागविशेष
आर्थीभावना—पुरुषनिष्ठ प्रवृत्तिरूप व्यापार
आहवनीय—यज्ञीय अग्निविशेष
आनुवाक्या—यज्ञीय अग्निविशेष
आमन—यागविशेष
आनुबन्ध्य—यज्ञान्तविहित पशुविशेष
आश्विनग्रह—सोमरसग्रहण
इतिकर्तव्यता—कार्य करने का प्रकार
उत्पत्त्यपूर्व—धर्मविशेष
उत्पवन—ऊपर फेकना
उद्भिद्—पशुपोषक यागविशेष
उपभृत्—यज्ञपात्रविशेष
उलप—तृणविशेष
औपवसथ्य—यज्ञारम्भदिनकृत्य विशेष
कपाल—यज्ञकाष्ठपात्रविशेष
कलञ्ज—विषयुक्तबाणहतपशुमांसविशेष
गार्हपत्य—अग्नि विशेष
चमस—सोमरस
चित्रा—यागविशेष
जुहू—अर्धचन्द्राकृति यज्ञपात्र विशेष
दर्श—अमावास्या
देवन—जूआ
नियोजन—यूपबन्धन
निर्वाप—प्रक्षेप
निर्वापन—काटना
पर्णता—पलाश
पुरोडाश—चरु (हवि विशेष)
प्रकृतियाग—साङ्गोपाङ्गविहितयाग विशेष
प्रयाज—समिधयागविशेष
प्राजापत्य—पशुयागविशेष
फलापूर्व—धर्मविशेष

बर्हिष्—कुश
भ्रातृव्य—शत्रु
यवागू—हलुआ
याज्या—मंत्र विशेष
रथकार—नीच शूद्र विशेष
रशना—घोड़े की लगाम (रस्सी)
लिङ्ग—रूढिशक्ति
वाजपेय { पानयोग्य सुराविशेष / तत्साध्य यागविशेष }
विकृतियाग—कतिपय अङ्गरहित याग विशेष
शाब्दीभावना—शब्दनिष्ठप्रवर्तन व्यापारविशेष
श्येनाभिचार—बाजपक्षिहननसाध्य-याग विशेष
श्रुति—प्रमाणान्तरनिरपेक्ष शब्दविशेष

षोडशी—यज्ञविशेष
सदन—स्थान
संदंश—संडशी के सदृश मंत्रद्वयमध्य पठित मंत्र विशेष
सवनीय—यज्ञमध्यविहित पशुविशेष
समाख्या—योगशक्ति
समुदायापूर्व—धर्मविशेष
साद्यस्क—सोम यागविशेष
साधन—उपाय (हेतु)
साध्य—उद्देश्य (प्रयोजन)
सान्नाय्य—ऐन्द्र याग
सुत्या—सोमरसनिश्च्योतनकाल
सोम { अमरलता-रसविशेष- / तत्साध्य-यागविशेष }
सौत्य—यज्ञमध्यदिन-कृत्यविशेष
स्योन—समीचीन
स्वर्ग—सुख विशेष

नवीन शिक्षापद्धति के अनु

१ संस्कृतसाहित्येतिहासः—(संस्कृत) श्री
२ संस्कृत साहित्य का इतिहास—वाचस्
३ संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—
४ आदर्श हिन्दी-संस्कृत कोशः—प्रो० रा
५ कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन—
६ हिन्दी साहित्यदर्पण—'शशिकला' हिन्दी
७ हिन्दी काव्यप्रकाश—'शशिकला' हिन्दी
८ हिन्दी कुवलयानन्द—व्याख्याकार डॉ०
९ हिन्दी काव्यादर्श—'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित ६—
१० हिन्दी हर्षचरित—'संकेत' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित ६—
११ हिन्दी रसगंगाधर—संस्कृत-हिन्दी व्याख्या [उत्प्रेक्षालङ्कारान्त] १८—
१२ हिन्दी प्राकृतप्रकाश—'मनोरमा' 'चन्द्रिका' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या ५—
१३ उत्तररामचरित—'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या नोट्स सहित ४—
१४ वेणीसंहारनाटक—'प्रबोधिनी' 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित ३—
१५ रत्नावली—'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी टीका, समालोचना, नोट्स सहित ३—
१६ कर्पूरमञ्जरी—'मकरन्द' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या, समालोचनादि सहित २—
१७ प्रबोधचन्द्रोदय—'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या, समालोचना सहित २—
१८ चम्पूरामायण—'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या, समालोचनादि सहित ६—
१९ चम्पूभारत—'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या, समालोचनादि सहित ८—
२० महावीरचरित—'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या, समालोचनादि सहित ४—
२१ विक्रमोर्वशीय—'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या, समालोचनादि सहित ३—
२२ वासवदत्ता—'चपला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या, समालोचनादि सहित ४—
२३ प्रसन्नराघव—'विद्योतिनी' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या, समालोचनादि सहित ४
२४ प्रतिमानाटक—समालोचनादि सहित 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या २—
२५ प्रियदर्शिका—'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या समालोचनादि सहित २—
२६ अभिज्ञानशाकुन्तल—'किशोरकेलि' व्याख्या, सं० प्रो० कान्तानाथशास्त्री ६—
२७ मृच्छकटिक—'प्रबोधिनी' व्याख्या, नोट्स, सं० प्रो० कान्तानाथ शास्त्री ६—

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी–१